जैन विद्या

भाग - ३

(जैन विद्या विशारद प्रथम वर्ष के लिए स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक)

सम्पादक

मुनि सुमेरमल 'सुदर्शन'

जैन विद्या भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं–341306
जिला : डीडवाना–कुचामन(राज.)
फोन नं. : (01581) 226080, 224671
ई–मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

छब्बीसवां संस्करण : जून 2024 (500 प्रतियां)

मूल्य : एक सौ चालीस रुपये मात्र

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

JAIN VIDYA BHAG 3 - By Muni Sumermal Sudarshan ₹ 140/-

प्रकाशकीय

बाल्यावस्था जीवन की स्वर्णिम बेला है। इस अवस्था में जो संस्कार पड़ जाते हैं, भावी जीवन पर उसका अमिट प्रभाव रहता है। संस्कारों का मुख्य कारण संगति एवं पाठ्य-सामग्री है। यदि सत्-संगति व सत्-पाठ्यक्रम सामग्री का संयोग रहे तो बालक में जो संस्कारों के अंकुर उगेंगे, वे निर्मल और सात्त्विक होंगे। यदि इस ओर विपरीतता रही तो उसका जीवन सुसंस्कृत नहीं रहेगा। आज के विद्यार्थियों का उदाहरण हमारे सामने हैं। आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा के अभाव के कारण विनय, शालीनता एवं अनुशासन जैसी सद्वृत्तियां उनमें दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। अतएव सबसे अधिक आवश्यक है, बालकों की सुकुमार बुद्धि में इन सद्गुणों को भरने का प्रयास किया जाय। क्योंकि जैसा उनका जीवन होगा, समाज और राष्ट्र का स्वरूप उससे भिन्न नहीं हो सकेगा। यह हर्ष का विषय है कि आज समूचे राष्ट्र का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है।

तत्त्व-ज्ञान में रुचि रखने वालों से यह छिपा नहीं है, जैन-दर्शन और साहित्य भारत की संयम प्रधान संस्कृति का अन्यतम अंग है। भारतीय वाङ्मय में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी शिक्षाएं जहां एक ओर नागरिक जीवन के सन्निर्माण में भी उनका बहुत बड़ा उपयोग है। उसके तत्त्व व्यापक, असंकीर्ण और सार्वदेशिक है, जो जन-जन को जीवन-विज्ञान का सही बोध करते हैं। जिन्हें आज लोक-भाषा और जन साहित्य में रखने की महती आवश्यकता है। गुरुदेव श्री तुलसी के निर्देशन में इसी उद्देश्य को लेकर जैन विश्व भारती, समण संस्कृति संकाय ने जैन विद्या पाठ्य पुस्तक का निर्माण कराया है।

प्रस्तुत पुस्तक जैन विद्या विशारद प्रथम वर्ष के लिए निर्धारित पाठ्य पुस्तक है, पुस्तक के संकलन व संपादन में मुनि सुमेरमलजी 'सुदर्शन' की महती भूमिका रही है, अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

जैन विद्या के अध्ययन में बालक-बालिकाओं की रूचि निरन्तर वृद्धिंगत हो, यह मंगल कामना।

निर्देशक
समण संस्कृति संकाय
जैन विश्व भारती

अनुक्रम

कंठस्थ

१. प्रयाण गीत	आचार्यश्री तुलसी	१
२. चउवीसत्थव	संकलित	२
३. विजय गीत	आचार्यश्री तुलसी	७
४. महावीर वाणी (सूक्त)	संकलित	८

इतिहास

५. तीर्थंकर मल्लिकुमारी	मुनि सुदर्शन	१०
६. भगवान् अरिष्टनेमि	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	१४
७. गणधर परम्परा		१७
८. अन्तिम केवली आचार्य जम्बू	मुनि किशनलाल	२५
९. आचार्य हरिभद्र सूरि	साध्वी संघमित्रा	२७
१०. आचार्यश्री मघवागणी		३२
११. आचार्यश्री माणकगणी		३५
१२. आचार्य डालचन्दजी	मुनि बुद्धमल्ल	३८
१३. महासती सरदारांजी	साध्वी राजीमती	४४
१४. आचार्य भिक्षु के प्रेरक प्रसंग	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	४९

सामान्य ज्ञान

१५. चार गतियां	धर्मबोध भाग-२	५३
१६. दो राशि	धर्मबोध भाग-२	५५
१७. जीव सब समान हैं	धर्मबोध भाग-२	५७
१८. धर्म	धर्मबोध भाग-२	५९
१९. धर्म और लौकिक कर्त्तव्य	धर्मबोध भाग-२	६१
२०. जैन धर्म	साध्वी यशोधरा	६३
२१. सृष्टि के विषय में जैन दृष्टिकोण	धर्मबोध भाग-२	६७
२२. सम्यक्त्व और मिथ्यात्व	धर्मबोध भाग-२	७०

२३. जैन-संस्कृति	धर्मबोध भाग-२	७३
२४. तेरापंथ के पर्व	धर्मबोध भाग-२	७५
२५. परमेष्ठी स्मरण विधि	मुनि किशनलाल	७८
२६. सामायिक उपासना विधि	धर्मबोध भाग-२	८०
कथा बोध		
२७. बाहुबलि का अर्ह	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	८२
२८. महावीर का मेघकुमार को ज्ञान-दान	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	८६
२९. गजसुकुमाल की सहनशीलता	मुनि सुदर्शन	८९

१

प्रयाण गीत

प्रभो! तुम्हारे पावन पथ पर, जीवन अर्पण है सारा।
बढ़े चलें, हम रुकें न क्षण भी, हो यह दृढ़ संकल्प हमारा।।
प्राणों की परवाह नहीं है, प्रण को अटल निभाएंगे।
नहीं अपेक्षा है ओरों की, स्वयं लक्ष्य को पाएंगे।
एक तुम्हारे ही वचनों का, भगवन् ! प्रतिपल सबल सहारा।।१।।
ज्यों-ज्यों चरण बढ़ेंगे आगे, स्वतः मार्ग बन जायेगा।
हटना होगा उसे बीच में, जो बाधक बन आयेगा।
रुक न सकेगी, मुड़ न सकेगी, सत्य क्रांति की उज्ज्वल धारा।।२।।
आत्म-शुद्धि का जहां प्रश्न है, सम्प्रदाय का मोह न हो।
चाह न यश की, और किसी से भी कोई विद्रोह न हो।
स्वर्ण-विघर्षण से त्यों सत्य, निखरता संघर्षों के द्वारा।।३।।
आग्रहहीन गहन चिन्तन का, द्वार हमेशा खुला रहे।
कण-कण में आदर्श तुम्हारा, पय-मिश्री ज्यों घुला रहे।
'जागें स्वयं' जगायें जग को, हो यह सफल हमारा नारा।।४।।
नया मोड़ हो उसी दिशा में, नई चेतना फिर जागे।
तोड़ गिरायें जीर्ण-शीर्ण जो, अंधरूढ़ियों के धागे।
आगे बढ़ने का यह युग है, बढ़ना हमको सबसे प्यारा।।५।।
शुद्धाचार-विचार-भित्ति पर, हम अभिनव निर्माण करें।
सिद्धांतों को अटल निभाते, निज-पर का कल्याण करें।
इसी भावना से भिक्षू का, 'तुलसी' चमका भाग्य-सितारा।।६।।

प्रश्न :

१. 'प्रयाण गीत' के कोई दो चरण लिखो।
२. 'प्रयाण गीत' का पांचवां चरण कौन-सा है ?
३. 'आग्रह-हीन गहन चिंतन का'.......इस से आगे का पद पूरा लिखो।
४. इस गीतिका के रचयिता का नाम लिखो।
५. 'ज्यों-ज्यों चरण' इससे आगे का चरण पूरा करो।

२

चउविसत्थव

१. इरियावहियं सुत्तं

इच्छामि पडिक्कमिउं	मैं इच्छा करता हूं निवृत्त होने की
इरियावहियाए विराहणाए	मार्ग पर चलने आदि से होने वाली विराधना से
गमणागमणे पाणक्कमणे	जाने-आने में किसी प्राणी को दबाकर,
बीअक्कमणे हरियक्कमणे	बीज को दबाकर वनस्पति को दबाकर,
ओसा-उत्तिंग-पणग	ओस, कीड़ियों के बिल, पांच वर्ण की काई,
दगमट्टी-मक्कडा-संताणा	कीचड़, मकड़ी के जाले आदि का
संकमणे।	संक्रमण हुआ हो।
जे मे जीवा	जो मेरे से जीवों की
विराहिया	विराधना हुई हो
ऐगिंदिया बेइंदिया	एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले,
तेइंदिया चउरिंदिया	तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले,
पंचिंदिया	पांच इन्द्रिय वाले जीवों को
अभिहया	चोट पहुंचाई हो
वत्तिया	धूल आदि से ढंका हो
लेसिया संघाइया	भूमि पर मसला हो, इकट्ठा किया हो
संघट्टिया परियाविया	छूआ हो, कष्ट पहुंचाया हो
किलामिया	मृत तुल्य किया हो
उद्दविया	भयभीत किया हो
ठाणाओ ठाणं संकामिया	एक स्थान से दूसरे स्थान में असावधानी से रखा हो
जीवियाओ ववरोविया,	जीवन से रहित किया हो
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।	उसके निष्फल हों मेरे पाप।

२. काउस्सग्ग पडिन्ना

तस्स	उसको (आत्मा को)
उत्तरीकरणेणं	श्रेष्ठ-उत्कृष्ट बनाने के निमित्त
पायच्छित्तकरणेणं	प्रायश्चित्त करने के लिए
विसोहीकरणेणं	विशेष, रूप से शुद्धि करने के लिए
विसल्लीकरणेणं	शल्य रहित करने के लिए
पावाणं कम्माणं	पाप कर्मों का
निग्घायणट्ठाए	नाश करने के लिए
ठामि काउस्सग्गं।	करता हूं कायोत्सर्ग (ध्यान)।
अन्नत्थ ऊससिएणं	इन आगारों के सिवाय उच्छ्वास
नीससिएणं खासिएणं	निःश्वास खांसी
छीएणं जंभाइएणं	छींक, जंभाई
उड्डुएणं वायनिसग्गेणं	डकार, अधोवायु
भमलीए	भंवर (चक्कर)
पित्तमुच्छाए	पित्त विकार-जनित मूर्च्छा
सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं	सूक्ष्म (थोड़ा) अंग-संचार
सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं	सूक्ष्म श्लेष्म-कफ संचार
सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं	सूक्ष्म दृष्टि-संचार
एवमाइएहिं आगारेहिं	इत्यादि आगारों से
अभग्गो अविराहिओ होज्ज	अभग्र, अविराधित, अखण्डित हो
मे काउस्सग्गो जाव	मेरा ध्यान (कायोत्सर्ग) जब तक
अरहंताणं भगवंताणं	अरहंत भगवंत को
नमोक्कारेणं न पारेमि	नमस्कार करके न पारूं
ताव कायं ठाणेणं	तब तक काया को स्थिर रखकर
मोणेणं झाणेणं	मौन (और) ध्यान के द्वारा
अप्पाणं वोसिरामि।	आत्मा को पाप कर्म से छोड़ता हूं।

३. उक्कित्तणं

१.	लोगस्स उज्जोयगरे,	लोक में उद्योत करने वाले
	धम्मतित्थयरे जिणे।	धर्मतीर्थ के कर्त्ता जिन।
	अरहंते कित्तइस्सं,	अर्हतों का मैं कीर्तन करूंगा,
	चउवीसंपि केवली।।	(वे) चौबीस केवल ज्ञानियों का।।
२.	उसभमजियं च वंदे,	ऋषभ और अजित को वंदन,
	संभवमभिनंदणं च सुमइं च।	संभव, अभिनन्दन, सुमितनाथ।
	पउमप्पहं सुपासं,	पद्मप्रभ, सुपार्श्व और
	जिणं च चंदप्पहं वंदे।।	चन्द्रप्रभ जिन को वंदन करता हूं।।
३.	सुविहिं च पुप्फदंतं,	सुविधिनाथ (दूसरा नाम पुष्पदन्त)
	सीअल-सिज्जंस-	शीतल, श्रेयांस,
	वासुपुज्जं च।	वासुपूज्य।
	विमलमणंतं च जिणं,	विमल, अनन्त जिनेश्वर,
	धम्मं संतिं च वंदामि।।	धर्म और शांतिनाथ को वंदना करता हूं।।
४.	कुंथुं अरं च मल्लिं,	कुंथु, अर और मल्लि को,
	वंदे मुणिसुव्वयं	वंदन करता हूं मुनिसुव्रत और
	नमिजिणं च।	नमि जिन को।
	वंदामि रिट्ठनेमिं,	वंदना करता हूं अरिष्टनेमि,
	पासं तह वद्धमाणं च।।	पार्श्व तथा वर्द्धमान को।।
५.	एवं मए अभित्थुआ,	इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये गए,
	विहुय-रयमला	पापरूप रज औरमल से रहित
	पहीण-जरमरणा।	जरा और मरण से मुक्त।
	चउवीसंपि जिणवरा,	चौबीस ही जिनवर,
	तित्थयरा मे पसीयंतु।।	तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों।।
६.	कित्तिय-वंदिय-मए,	कीर्तित, वन्दित मेरे द्वारा,
	जे ए लोगस्स उत्तमा	जो ये लोक के उत्तम
	सिद्धा।	सिद्ध हैं। (वे)
	आरोग्ग-बोहिलाभं,	आरोग्य बोधि का लाभ,
	समाहिवरमुत्तमं दिंतु।।	समाधि का वर दें।।
७.	चंदेसु निम्म्लयरा,	चन्द्रमाओं से निर्मलतर,
	आइच्चेसु अहियं	सूर्यों से अधिक
	पयासयरा।	प्रकाश करने वाले।
	सागरवरगंभीरा,	समुद्र के समान गंभीर,
	सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।	सिद्ध सिद्धि-मुक्ति मुझे दें।।

४. सक्कथुई

नमोत्थुणं अरहंताणं	नमस्कार हो अरहंत
भगवंताणं आइगराणं	भगवान् को धर्म के आदिकर्त्ता
तित्थयराणं	तीर्थंकर
सहसंबुद्धाणं	स्वयं सम्बुद्ध
पुरिसोत्तमाणं	पुरुषों में उत्तम
पुरिससीहाणं	पुरुषों में सिंह के समान
पुरिसवरपुंडरीयाणं	पुरुषों में प्रवर पुण्डरीक
पुरिसवरगंघहत्थीणं	पुरुषों में प्रधान गंधहस्ती के समान
लोगुत्तमाणं	लोक में उत्तम
लोगनाहाणं	लोक के नाथ
लोगहियाणं	लोक के हितकारी
लोगपईवाणं	लोक में प्रदीप के समान
लोगपज्जोयगराणं	लोक में उद्योत करने वाले
अभयदयाणं	अभयदान देने वाले
चक्खुदयाणं	ज्ञानरूपी नेत्रों को देने वाले
मग्गदयाणं	मोक्ष मार्ग के देने वाले
सरणदयाणं	सर्व जीवों के शरणभूत
जीवदयाणं	जीवन के दाता
बोहिदयाणं	बोधि के देने वाले
धम्मदयाणं	धर्म के दाता
धम्मदेसयाणं	धर्मोपदेशक
धम्मनायगाणं	धर्म के नायक
धम्मसारहीणं	धर्म-रथ के सारथी
धम्मवर-चाउरंत	धर्म में प्रधान चतुर्दिक व्यापी
चक्कवट्टीणं दीवो ताणं	चक्रवर्ती हैं, आप दीप हैं, रक्षक हैं

सरण-गई-पइट्ठा	आप प्राणियों के लिए शरण हैं, गति हैं, प्रतिष्ठा (आधार) हैं
अप्पडिहयवर	अप्रतिहत ऐसे श्रेष्ठ
नाण-दंसण-धराणं	ज्ञान-दर्शन के धारक
विअट्टछउमाणं	छद्म अर्थात् घातिक कर्मों से रहित
जिणाणं	राग-द्वेष को जीतने वाले
जावयाणं	राग-द्वेष को जीताने वाले
तिन्नाणं	संसार-समुद्र से स्वयं तरने वाले
तारयाणं	और दूसरों को तारने वाले
बुद्धाणं	आप बुद्ध हैं
बोहयाणं	दूसरों को बोधि देने वाले
मुत्ताणं	स्वयं कर्मों से मुक्त
मोयगाणं	ओरों को मुक्त करने वाले
सव्वण्णूणं सव्वदरिसीणं	सर्वज्ञ सर्वदर्शी
सिवमयल	कल्याणकारी स्थिर
मरुयमणंतमक्खय-	रोग से रहित अनंत अक्षय
मव्वाबाह	बाधा-पीड़ा रहित
मपुणरावित्तयं	पुनर्जन्म रहित
सिद्धिगइनामधेयं	सिद्धि गति नामक
ठाणं संपत्ताणं	स्थान को सम्प्राप्त हैं ;
णमो जिणाणं	नमस्कार हो जिनेश्वर
जियभयाणं	भय-विजेता को।

प्रश्न :

१. 'उक्कित्तणं' का तीसरा और पांचवां श्लोक लिखें।

२. 'बोहिदयाणं' से आगे की पाटी को पूर्ण करें।

३. चउविसत्थव की पहली पाटी लिखें।

४. 'छीएणं जंभाइएणं' इससे आगे की पाटी पूरी लिखो।

५. 'कुंथुं अरं च मल्लिं' यह कौन-सा श्लोक है।

३

विजय-गीत

लक्ष्य है ऊंचा हमारा, हम विजय के गीत गाएं।
चीरकर कठिनाइयों को, दीप बन हम जगमगाएं।।
तेज सूरज-सा लिए हम,
शुभ्रता शशि-सी लिए हम।
पवन-सा गतिवेग लेकर, चरण ये आगे बढ़ाएं।।१।।
हम न रुकना जानते हैं,
हम न झुकना जानते हैं।
हो प्रबल संकल्प इतना, सफल हों सब कल्पनाएं।।२।।
हम अभय निर्मल निरामय,
हैं अटल जैसे हिमालय।
हर कठिन जीवन-घड़ी में, फूल बनकर मुस्कराएं।।३।।
हे प्रभो ! पा पंथ तेरा,
हो रहा अब नव सवेरा।
स्वस्थ तन मन स्वस्थ चिंतन, चेतना की लौ जलाएं।।४।।[1]

प्रश्न :

१. विजय गीत के रचनाकार कौन है ?
२. तेज सूरज-सा.....पद्य को पूरा करें।
३. विजय गीत के कोई दो पद्य लिखे।

---

१. इस गीत के रचनाकार आचार्य तुलसी है।

४

महावीर वाणी
(सूक्त)

अहिंसा पद

१. **अप्पा मित्तममित्तं च।**
आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही शत्रु है।

२. **मेत्तिं भूएसु कप्पए।**
सब प्राणियों पर मैत्री भाव रखो।

३. **अहिंसा सव्वभूय खेमंकरी।**
अहिंसा समस्त प्राणियों का कल्याण करने वाली है।

४. **अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए।**
छः ही काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान समझो।

५. **एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई किंचणं।**
ज्ञानी के ज्ञान के सार यही है, किसी प्राणी की हिंसा न करे।

सत्य पद

६. **सच्चं लोयम्मि सारभूयं।**
सत्य ही लोक में सारभूत है।

७. **सच्चं खु भयवं।**
सत्य ही भगवान् है।

८. **सच्चम्मि धिई कुव्वहा।**
सत्य में स्थिर रहो

शिक्षा पद

९. **अलं बालस्स संगेणं।**
अज्ञानी की संगत मत करो।

१०. **काले कालं समायरे।**
काम ठीक समय पर करो।

११. **राइणिएसु विणयं पउंजे।**
बड़ों का सम्मान करो।

१२. सुय लाभे न मज्जेज्जा।

ज्ञान का गर्व (घमण्ड) मत करो।

१३. विवेगे धम्ममाहिए।

विवेक ही धर्म है।

प्रश्न :

१. सत्य पद के दो सूक्त लिखो।

२. शिक्षा पद के तीन सूक्त लिखो।

३. अहिंसा पद के तीन सूक्त लिखो।

४. 'अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए' – इसका क्या अर्थ है ?

५

तीर्थंकर मल्लिनाथ

मल्लि का सौन्दर्य

तीर्थंकर जैसे सर्वोच्च पद को अलंकृत करने वाली मल्लिकुमारी मानव-समाज के लिए और विशेषतः नारी-समाज के लिए गौरव का विषय है। मल्लिकुमारी क्षत्रिय कुलोत्पन्न राजदुलारी थी। वह मिथिला-नरेश कुम्भ की सुपुत्री थी। माता का नाम प्रभावती था। उसका रूप-सौन्दर्य सबके मन को हरण करने वाला था। भिन्न-भिन्न देशों के अनेक युवा राजकुमार मल्लिकुमारी के रूप पर मुग्ध थे, किन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि मल्लिकुमारी भौतिक सुखों से सर्वथा विरक्त है। वह वैवाहिक बन्धन में नहीं पड़ना चाहती। ऐसी स्थिति में स्थान-स्थान से राजा कुम्भ के पास विवाह-संबंध के आवेदन आने लगे। मल्लि का विवाह न करने का संकल्प दृढ़ था, अतः राजा कुम्भ के लिए आवेदकों को वापस कर देने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था।

मिथिला पर आक्रमण

अंग, बंग, काशी, कौशल, कुरू और पाञ्चाल के पड़ोसी नरेश भी मल्लि की रूप-छटा पर न्यौछावर थे। मल्लि को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा उन्हें बेचैन कर रही थी। मल्लि से मिलने की अत्यधिक आतुरता ने उन्हें गलत निर्णय पर पहुंचा दिया। वे बल-प्रयोग से मल्लिकुमारी को अपनाना चाहते थे। और ऐसा ही संयोग बना कि छहों पड़ोसी नरेश एक साथ आक्रमण का उद्देश्य लेकर मिथिला पर आ धमके। सबकी ओर से अपने-अपने दूतों द्वारा एक ही सन्देश कुम्भ नरेश के पास पहुंच रहा था – 'राजकुमारी मल्लि को प्रदान करों या लड़ो।' इस सन्देश को सुनकर कुम्भ नरेश का मन चिन्ता से भर गया।

मल्लि की युक्ति

मल्लिकुमारी मात्र रूप-संपन्न ही नहीं, अपितु विलक्षण बुद्धि-विवेक से भी सम्पन्न थी। उसने सारी स्थिति को गंभीरता से पढ़ा और कुम्भ नरेश के पास जाकर वह बोली – 'राजन्! चिन्तित होने की कोई बात नहीं। आप छहों राजाओं को कहलवा दें कि मल्लिकुमारी स्वयं आपसे मिलना चाहती है और वही इस संबंध में निर्णय लेगी। पर इस मिलन के लिए उन्हें छह महिनों तक प्रतीक्षा करनी होगी।'

कुम्भ नरेश ने अपनी पुत्री का यह सन्देश छहों नरेशों तक अलग-अलग से पहुंचा दिया। सन्देश सुनकर मल्लि से मिलने के लिए आतुर राजाओं के मन प्रसन्नता से झूम उठे। युद्ध करने की अपेक्षा प्रतीक्षा करने की बात उन्हें अच्छी लगी। तनावपूर्ण वातावरण परिवर्तित हुआ। सभी नरेश अपने-अपने स्थान पर मिलने के स्वप्न देखने लगे।

इधर मल्लिकुमारी ने इस संकट से त्राण पाने के लिए एक युक्ति निकाली। उसने ठीक अपने ही आकार की एक धातु-प्रतिमा का निर्माण करवाया जो भीतर से पोली थी। अपने प्रतिदिन के भोजन का कुछ अंश मल्लिकुमारी उसमें डाल देती थी। वह प्रतिमा किसी विशिष्ट रूप से बनाये गये गोलाकार कक्ष के मध्य में स्थापित की गई।

राजाओं का आगमन

प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते हैं। छः महीने की अवधि जैसे-तैसे पूर्ण हुई। छहों राजाओं ने पूर्व सूचना और सुनियोजित व्यवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गों से निर्दिष्ट कक्ष में प्रवेश किया। छहों नरेशों के बैठने की व्यवस्था कक्ष में इस प्रकार से थी कि जिससे परस्पर वे कोई किसी को दिखाई नहीं दे रहे थे। सबकी दृष्टि उस प्रतिमा पर केन्द्रित थी। कलाकार कि अद्‌भुत कृति थी वह प्रतिमा, जो साक्षात् राजकुमारी मल्लि का आभास करा रही थी। प्रतिमा के प्रत्येक अवयव की सुन्दरता ने नरेशों को पूर्णतः विभ्रांत बना दिया था। यह देवी है या मानवी, यही एक प्रश्न उनके मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि मानव-निर्मित कला ही मानव को धोखा दे सकती है।

मल्लि का आगमन

ठीक समय पर मल्लि राजकुमारी ने प्रवेश किया। उसका आगमन सभी नरेशों को ऐसा लगा जैसे स्वर्ग से कोई देवी उतरकर आई हो। असली राजकुमारी के रूप-सौन्दर्य ने क्षण भर के लिए सबको स्तब्ध कर दिया।

मल्लि राजकुमारी वस्त्राभूषणों से सज्जित अपने ही आकार की धातु-प्रतिमा के पास खड़ी हुई। प्रतिमा के सर पर से ढक्कन को उठाया। ढक्कन के उठते ही कक्ष में चारों ओर भयंकर दुर्गन्ध फूटने लगी। छह महीने तक मुख-द्वार बन्द रहने के कारण उसके भीतर के अन्न-कणों में बुरी तरह से सड़ान पैदा हो गई। फैली हुई भयंकर दुर्गन्ध के कारण नरेशों की मुखाकृति एकदम बदल गई। सबने अपनी-अपनी नाक कपड़ें से ढक ली। मल्लिकुमारी ने सुमधुर, धीरगम्भीर स्वर

में राजन्य-वर्ग को सम्बोधित करते हुए कहा – ''वसुधाधिपों ! क्यों आपने अपनी मुखाकृति बदल ली है और क्यों मुंह पर कपड़ा डाला है ? आप मल्लि के जिस रूप-सौन्दर्य पर बिक चुके हैं उस मल्लिकुमारी का शरीर भी तो खाद्य-सामग्री से ही पोषित हुआ है। यह दुर्गन्ध जो इस प्रतिमा से फूट रही है वह खाद्यान्न का ही पर्याय है और यह कभी इस शरीर से भी फूटने वाली है। यह शरीर अशुची का भण्डार है, नश्वर है। यौवन और रूप भी नश्वर है। काम भोग का सुख नश्वर है। किम्पाक फल की भांति इनका परिणाम अन्त तक कटु है। जो रूप विद्रूप बन जाने वाला है उस पर से दृष्टि हटाकर आत्मा के रूप-सौन्दर्य पर दृष्टि स्थापित करो ; जो अनन्त है, जो कभी मिटने वाला नहीं है, जो हर क्षण आनन्द देने वाला है।'' सभी राजे अवाक् थे।

उन्हें सम्बोधित करते हुए राजकुमारी ने कहा – ''आप छहों हमारे पूर्व जन्म के मित्र हैं। हमने एक साथ मुनि-जीवन स्वीकार किया था। समान तपस्या स्वीकार की थी। किन्तु मैंने अपना संकल्प नहीं निभाया। इसी कारण मैं यहां स्त्री रूप में पैदा हुई और आप पुरुष रूप में पैदा हुए। जिस प्रकार हम पूर्व जन्म में मित्र थे उसी प्रकार इस जन्म में भी हमें मित्र रहना है। यदि आपको मेरे प्रति सच्चा आकर्षण है तो आप मेरा अनुसरण करें, मेरे साथ संयम-मार्ग स्वीकार कर आत्मा का कल्याण करें।'' छहों नरेशों के हृदय में एक विचित्र वैचारिक क्रांति घटित हो गई। राग विराग में बदल गया। कामवासना, अध्यात्म भावना का रूप लेकर प्रकट हुई।

मल्लिकुमारी ने सौ वर्ष की अवस्था में संयम-मार्ग को स्वीकार किया। छहों नरेशों ने उस पथ का अनुसरण किया। २४ तीर्थंकरों में तीर्थंकर मल्लिनाथ का छद्मस्थ साधना-काल सबसे कम है। दीक्षा लेने के बाद अन्तमुहूर्त्त की ध्यान-साधना से उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई और तीर्थंकर जैसे सर्वोच्च स्थान को अलंकृत किया।

मल्लि एवं छहों नरेश पूर्व भव में मित्र थे और इन्होंने एक साथ रहकर संयम योग और तप योग की साधना की थी। इस भव में इस सातों का मैत्री-भाव विश्व के सब प्राणियों के साथ जुड़कर विराट बन गया। योग से अयोग अवस्था में पहुंचकर सबके सब मोक्ष महासाम्राज्य के अधिकारी बने।

प्रश्न :

१. किस-किस देश के राजा ने मल्लिकुमारी से विवाह की कामना की थी ?

२. मल्लिकुमारी ने राजाओं को किस युक्ति से समझाया था ?

३. मल्लिकुमारी ने संयम स्वीकार किया उस समय उसकी अवस्था क्या थी ?

४. मल्लिकुमारी की कहानी संक्षिप्त में लिखें।

६

भगवान् अरिष्टनेमि

जन्म

सोरियपुर नगर में अन्धक कुल के नेता समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उनके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि प्रत्येक बुद्ध[1]।

अरिष्टनेमि का जीव जब शिवारानी के गर्भ में आया तब माता ने चौदह स्वप्न देखे।[2] श्रावण कृष्णा पंचमी को रानी ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। बालक के गर्भकाल में रहते महाराज समुद्रविजय आदि सब प्रकार के अरिष्टों से बचे तथा स्वप्न में रिष्टरत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा गया।

विवाह

अरिष्टनेमि युवा हुए। इन्द्रिय-विषयों की ओर उनका अनुराग नहीं था। वे विरक्त थे। पिता समुद्रविजय ने सोचा कि ऐसा उपक्रम किया जाए जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों के प्रति आसक्त होकर गृहस्थ-जीवन जीए।

अनेक प्रलोभन दिए गए। पर वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। कुछ समय बीता। अन्त में श्रीकृष्ण के समझाने पर वे विवाह के लिए राजी हो गए।

भोज-कुल के राजा अग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ। विवाह से पूर्व किए जाने वाले सारे रीति-रिवाज सम्पन्न हुए। विवाह का दिन आया। राजीमती अलंकृत हुई। कुमार अरिष्टनेमि भी अलंकृत होकर हाथी पर आरूढ़ हुए। मंगलदीप सजाये गए। बाजे बजने लगे। वर-यात्रा

---

१. किसी एक निमित्त से वैराग्य प्राप्त कर दीक्षित होने वाले।

२. चौदह स्वप्न (१) गज (२) वृषभ (३) सिंह (४) लक्ष्मी (५) पुष्पमाल्य (६) चन्द्र (७) सूर्य (८) ध्वजा (९) कुंभ (१०) पद्म सरोवर (११) क्षीर समुद्र (१२) विमान (१३) रत्नराशि एवं (१४) निर्धूम अग्नि।

प्रारंभ हुई। हजारों लोगों ने उसे देखा। वह विवाह-मंडप की ओर धीरे-धीरे बढ़ रही थी। रास्ते में एक स्थान पर अरिष्टनेमि को करुण शब्द सुनाई दिए। उन्होंने सारथी से पूछा – 'ये शब्द कहां से आ रहे हैं'? सारथी ने कहा – ''देव! ये शब्द पशुओं की चीत्कार के हैं। वे आपके विवाह में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों के लिए भोज्य बनेंगे, अतः उनका वध होगा। मरण-भय से वे आक्रन्दन कर रहे हैं।''

दीक्षा और कैवल्य

अरिष्टनेमि का मन खिन्न हो गया। उन्होंने कह – ''यह कैसा आनन्द ! यह कैसा विवाह ! जहां हजारों मूक पशुओं का वध किया जाता है। यह तो संसार में परिभ्रमण का हेतु है। मैं इसमें क्यों भागी बनूं ? उन्होंने हाथी को वहां से अपने निवास-स्थान की ओर मोड़ दिया। श्री कृष्ण के समझाने पर भी वे वापस नहीं मुड़े। वे अपने माता-पिता के पास गए और प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर, वे तेले (तीन दिन का उपवास) की तपस्या में उज्जयंत पर्वत पर सहस्राम्रवन में श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन तीन हजार व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हो गए।

राजकुमारी राजीमती को जब इस घटना का पता लगा तो वह स्तम्भित हो गई, किन्तु तुरन्त ही अपने को संभाला और आत्म-कल्याण के सुप्रशस्त मार्ग को अंगीकार करने के लिए प्रस्तुत हो गई और माता-पिता की आज्ञा से दीक्षित हो गई।

अरिष्टनेमि को चोपन दिन के बाद आश्विन कृष्णा अमावस्या के दिन केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वे केवली बने। वे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर बाईसवें तीर्थंकर हो गए।

श्रीकृष्ण का पारिवारिक सम्बन्ध

श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक-संबंध भी था। अरिष्टनेमि समुद्रविजय के और श्रीकृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया। अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे। राजीमती को भी दीक्षा के समय में उन्होंने भावुक शब्दों में आशीर्वाद दिया।

श्रीकृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमाल ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली।

श्रीकृष्ण की आठ पत्नियां अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुई। श्रीकृष्ण के पुत्र और पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने। जैन साहित्य में अरिष्टनेमि और कृष्ण के वार्तालापों, प्रश्नोत्तरों और विविध चर्चाओं के अनेक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं।

प्रश्न :

१. भगवान् अरिष्टनेमि कौन-से तीर्थंकर हुए ? उनका यह नाम क्यों पड़ा ?

२. कृष्ण और अरिष्टनेमि का क्या सम्बन्ध था ?

३. विवाह के लिए गये हुये अरिष्टनेमि वापस क्यों लौट आए ?

४. अरिष्टनेमि के पिता का नाम क्या था ?

७

गणधर परम्परा

तीर्थंकर द्वारा अर्थ रूप में प्रवर्तित प्रवचन को धारण कर सूत्ररूप में व्याख्यान करने वाले गणधर होते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे। उनके द्वारा की गई रचनाएं आगम कहलाती है।

१. गणधर इन्द्रभूति गौतम

गणधर इन्द्रभूति गौतम अपने गोत्र 'गौतम' के नाम से विश्रुत हैं। इनका जन्म 'गोबर' ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम 'वसुभूति' और माता का नाम 'पृथ्वी' था। ये ब्राह्मण कुल में बहुप्रतिष्ठित थे। इन्द्रभूति चार वेद, चौदह विद्याओं में निष्णात तथा अपने समाज में सम्पन्न, अग्रगण्य तथा प्रसिद्ध याज्ञिक थे।

सोमिल ब्राह्मण के निमंत्रण पर ये मध्यमा-पावा में यज्ञार्थ गए। वहां श्रमण भगवान् महावीर से सम्पर्क हुआ। उन्हें जीव के अस्तित्व के बारे में सन्देह था। भगवान् ने उनके गूढ़ प्रश्न को स्वयं सबके सामने प्रकट किया। इन्द्रभूति को आश्चर्य हुआ और उनकी अन्तरात्मा भगवान् के चरणों में झुक गई। भगवान् का तत्त्वमय उपदेश श्रवण कर उन्हें यथार्थ का बोध हुआ और वे महावीर के चरणों में समर्पित हो गए। उन्होंने ५० वर्ष की अवस्था में ५०० ब्राह्मण शिष्यों के साथ दीक्षा ली। श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य और प्रथम गणधर थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार ये महावीर के प्रथम पट्टधर भी थे किन्तु श्वेताम्बर परम्परा ऐसा नहीं मानती। गौतम भगवान् से प्रश्न पूछते और भगवान् उनका समाधान देते। आगमों में इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों से अनेक दार्शनिक सैद्धांतिक पक्षों पर विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। गौतम को संबोधित कर भगवान् ने जो उपदेश दिया वह शाश्वत सत्य की गाथा बन गया।

भगवान् का निर्वाण होने के बाद उन्होंने ८० वर्ष की अवस्था में कैवल्य प्राप्त किया और ९२ वर्ष की अवस्था में मोक्ष पधारे। यद्यपि गौतम स्वामी भगवान् महावीर से आयु में आठ वर्ष बड़े थे, फिर भी प्रभु के प्रति जो समर्पण भाव, जिज्ञासा, विनय भाव रखा उससे उनकी असाधारणता स्पष्ट झलक रही है।

२. अग्निभूति गौतम

अग्निभूति इन्द्रभूति के मझले भाई थे। ये भी पांच सौ ब्राह्मण छात्रों के

विद्वान् अध्यापक थे और आर्य सोमिल के यज्ञोत्सव में अपने छात्रगण के साथ मध्यमा पावा में पधारे थे। वेद, उपनिषद और कर्मकाण्ड के महान् ज्ञाता थे। इनके आकर्षक व्यक्तित्व का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता था। इनका व्यवहार मधुर एवं विनयपूर्ण था।

इन्द्रभूति की दीक्षा के समाचार से आश्चर्य हो, शास्त्रार्थ करने की साध लेकर महावीर के समवसरण में आयें। वे अर्हत् महावीर की शांत मुखमुद्रा का दर्शन करने में इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें शरीर की भी सुध-बुध न रही। जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि में तपकर निखर जाता है और समस्त मलिनता दूर हो जाती है, उसी प्रकार अग्निभूति की आत्म ज्योति तीर्थंकर महावीर के सम्पर्क से निखर गई और आत्म-शोधन के हेतु दीक्षित होने की कामना भी जागृत हो गयी। द्वैत-अद्वैत संबंधी उनकी शंकाएं स्वयं निराकृत हो गयी। अग्निभूति ने ४६ वर्ष की अवस्था में तीर्थंकर महावीर के चरणों में दीक्षा ग्रहण की।

३. वायुभूति गौतम

वायुभूति इन्द्रभूति के छोटे भाई थे। ये भी सोमिलार्य के यज्ञोत्सव में ५०० छात्रों के साथ मध्यमा पावा में आये हुये थे। जब इन्हें इन्द्रभूति और अग्निभूति के दीक्षित होने का समाचार प्राप्त हुआ तो इनका मन भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने के लिए फड़क उठा। इन्होंने विचार किया मेरे दो भाई पता नहीं, किस प्रकार से मायावी के इन्द्रजाल में फंस गये हैं। मुझे वैदिक मान्यताओं की रक्षा करनी है। अतएव मैं शास्त्रार्थ द्वारा महावीर को अवश्य पराजित करूंगा। भौतिक सुख, समृद्धि, यज्ञयागादि क्रियाकांड, जातिवाद, बहुदेववाद आदि का विरोध करने का सामर्थ्य किसमें हैं ? यह मैं मानता हूं कि मेरे दोनों भाई मुझसे अधिक विद्वान् और प्रतिभाशाली हैं, पर मैं अपने ज्ञान पर भरोसा करता हूं। मुझे विश्वास है कि देहातिरिक्त 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ नहीं। चलता हूं महावीर की सभा में और अपने तर्कों से उन्हें परास्त कर देता हूं।

इस प्रकार अहंकार से पुलकित होते हुये वायुभूति भगवान् महावीर के समवसरण में उपस्थित हुये। तीर्थंकर महावीर की सौम्य मुद्रा को अनिमेष होकर वे देखते रहे। ज्ञानमद चूर होते ही उनका हृदय श्रद्धा से जगमगाने लगा। दम्भ और मिथ्याभिनिवेश हटते ही उनका हृदय परिवर्तित हो गया। मन के सारे विकल्प समाप्त हो गये।

वायुभूति भगवान् महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति और गणधर 'अग्निभूति' के सहोदर थे। इनका भी गौतम गोत्र, वसुभूति ब्राह्मण पिता तथा 'पृथ्वी' माता थी। इनके मन में संदेह था 'शरीर ही आत्मा है या शरीर आत्मा से भिन्न है।' वायुभूति ने ४२ वर्ष की अवस्था में तीर्थंकर महावीर के पादमूल में दीक्षा धारण की और तृतीय गणधर का पद प्राप्त किया।

४. व्यक्त

परिवेश व्यक्ति को कितना परिवर्तित कर देता है, यह व्यक्ति के जीवन से जाना जा सकता है। ये ब्रह्मवादी थे और यज्ञयागादि द्वारा लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति में विश्वास करते थे। जब उन्हें इस बात का ज्ञान हुआ कि तीर्थंकर महावीर समवसरण में स्थित हैं और जनसमुदाय उनकी पीयूष-वाणी का पान करने के लिये एकत्रित हुए हैं, तो वे भी अपनी इच्छा का संवरण न कर सके और तीर्थंकर महावीर के दर्शन के लिये चल पड़े। व्यक्त ज्ञानी अध्यापक थे और ५०० शिष्य इनके चरणों में बैठकर वेदाध्ययन करते थे। इनके ज्ञान की धूम समस्त पूर्वांचल में व्याप्त थी। ये कोल्लाग-सन्निवेश के निवासी और भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वारूणी और पिता का नाम धनमित्र था। व्यक्त अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे। इनके हृदय में दृश्य जगत् के अस्तित्व के संबंध में आशंका विद्यमान थी। इन्हें भी अपने ज्ञान का दम्भ था और शास्त्रार्थ में बड़े-बड़े विद्वानों को परास्त करने की क्षमता भी थी। व्यक्त भगवान् महावीर के समवसरण में उपस्थित हुये और भगवान् के दर्शन मात्र से उनकी शंकाओं का समाधान हो गया। वे सोचने लगे कि महावीर का तेज अद्भुत है। इनके तेज के समक्ष सभी का तेज फीका पड़ जाता है। मैं द्वैतवाद की शंका में अब तक पड़ा हुआ था, पर आज मेरी आंखें खुल गयी और मुझे सत्य का साक्षात्कार हो गया। अतएव मुझे दीक्षा ग्रहण करने में अब विलम्ब नहीं करनी चाहिए। व्यक्त ने ५० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की और महावीर के चतुर्थ गणधर का पद प्राप्त किया।

५ सुधर्मा

भगवान् महावीर के पंचम गणधर का नाम सुधर्मा है, जो सुधर्मा स्वामी के नाम से प्रसिद्ध है। ये कोल्लाग-सन्निवेश निवासी अग्निवैश्यायनगोत्री ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का नाम धम्मिल्ल था। ये भी अपने ५०० शिष्यों के साथ सोमिल के यज्ञोत्सव में सम्मिलित होने के हेतु मध्यमा पावा पधारे थे।

जब इन्हें इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि के दीक्षित होने का वृत्त ज्ञात हुआ, तो इनके मन में भी तीर्थंकर महावीर के दर्शन की इच्छा जागृत हुई और निर्मल वातावरण में तीर्थंकर महावीर के समवसरण में इन्होंने प्रवेश किया।

आत्मा के महान् शिल्पी के स्पर्श से उनकी सरागता उज्ज्वलता में बदल रही थी। वे महावीर की सौम्य मुद्रा के दर्शन से आनन्द-विभोर थे।

सुधर्मा सोचने लगे कि मेरे पचास वर्ष बीत गये। मैंने अभी तक अपनी आत्मा का कुछ भी सुधार नहीं किया। ज्ञान और जाति के अहंकार में डूबा रहा। न मैंने आत्म-साधना की और न कल्याण ही। वास्तव में अहिंसा ही जीवनोत्थान का साधन है। जो व्यक्ति वैभव और विभूतियों से दबा रहता है वह महान् नहीं बन सकता है। मानव की मानवता के सामने देव भी नतमस्तक हो जाते हैं। अतएव व्यक्ति को सदा सत्य, अहिंसा आदि मानवीय एवं ज्ञान-दर्शनादि आत्मीय गुणों का साक्षात्कार करना चाहिए। मानवता के नाते सभी मानव समान है। जन्म से कोई भी व्यक्ति न बड़ा न छोटा। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य, गुणों और श्रम से महान बनते हैं। अतएव अब मुझे प्रव्रजित हो जाना चाहिये। सुधर्मा ने ५० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। महावीर के गणधरों में इनका पांचवां स्थान था। सुधर्मा दीर्घजीवी थे। इन्होंने बहुत दिनों तक श्रमण संघ का संचालन किया।

६. मंडित

मंडित संख्य-दर्शन के समर्थक थे। उनके मन में बंध मोक्ष के संबंध में आशंका थी। वे मौर्य-सन्निवेश के निवासी और वशिष्ठगोत्री विद्वान ब्राह्मण थे। उनकी माता का नाम विजयदेवी और पिता का नाम धनदेव था। ३५० छात्रों के विद्या गुरु थे। सोमिल आर्य के निमंत्रण पर यज्ञोत्सव में सम्मिलित होने के लिये मध्यमा पावा में आये थे। मंडित स्वस्थ शरीर गौरवर्ण और सात हाथ उन्नत थे। उनके ज्ञान का प्रकाश पूर्वांचल में पूर्णतया व्याप्त था। वेद की अपेक्षा वे तर्क शास्त्र में अधिक निष्णात थे। उनका शिष्य वर्ग दर्शन और तर्क में विशेष निपूण था।

इन्द्रभूति, वायुभूति आदि के दीक्षित होने का समाचार उपलब्ध हुआ तो उनके मन में भी महावीर के समवसरण में प्रविष्ट होने की भावना उत्पन्न हुई। मंडित सोचने लगे देवार्य महावीर में ऐसा कौन सा चमत्कार है, जो बड़े-बड़े

विद्वानों को अपना शिष्य बना लेते हैं। इन्द्रभूति, अग्निभूति वैदिक कर्मकाण्डी विद्वान् थे। तर्कशास्त्र से वे प्रायः दूर थे। अतः संभव है कि महावीर ने इन्हें सरलता से प्रभावित कर लिया हो। मैं तो तर्क का पण्डित हूं। मेरे समक्ष महावीर या उनका अन्य कोई शिष्य नहीं ठहर सकता। मैं आज जाकर महावीर से अवश्य शास्त्रार्थ करूंगा और उन्हें पराजित कर अपनी यशः पताका फहराऊंगा। मंडित अपने ही विचार में डूबता-उतरता अपने ३५० शिष्यों सहित विपलाचल पर स्थित महावीर के समवसरण में सम्मिलित हुआ। ५० वर्ष की अवस्था में मंडित ने उद्बोधन प्राप्त किया और तीर्थंकर महावीर के पादमूल में स्थित होकर दीक्षा ग्रहण की। मंडित ने छठे गणधर का पद प्राप्त किया।

७. मौर्यपुत्र

तीर्थंकर महावीर के सप्तम गणधर का नाम मौर्यपुत्र है। ये मौर्यपुत्र काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य तथा माता का नाम विजयादेवी था। ये मौर्य-सन्निवेश ग्रामवासी थे। मौर्यपुत्र भी ३५० छात्रों के अध्यापक थे और आर्य सोमिल के आमंत्रण पर मध्यमा पावा में पधारे थे। इन्हें परलोक, पुनर्जन्म आदि के संबंध में सन्देह था। अतएव इन्द्रभूति आदि की दीक्षा का समाचार ज्ञात कर ये भी तीर्थंकर महावीर के समवसरण में सम्मिलित हुए।

महावीर के समवसरण के दर्शन करते ही इनकी आत्मा में सम्यक्त्व की लहर उत्पन्न हो गयी। ये सोचने लगे 'यह मानव जीवन क्या है ? इस विश्व में तो मत्स्यन्याय चल रहा है। जैसे समुद्र में बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार यहां भी शक्तिशाली मनुष्य निर्बल को आक्रान्त कर देता है। जाति-पाति का बन्धन भी कम नहीं है। ब्राह्मण को अपनी विद्या और जाति का अभिमान है। भजन-भोजन एवं पठन-पाठन पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया है। वैश्य वाणिज्य पर अपना अधिकार मानता है और जैसे-तैसे धन संचय करना ही अपना अधिकार समझता है। क्षत्रिय-कुमार पर-पीड़ा देने में ही आनन्दानुभूति करते हैं। शुद्र जाति सब ओर से प्रताड़िता हो रही है। आत्मा में प्रज्वलित होती हुई ज्योति का कोई अनुभव नहीं करता है। प्रत्येक आत्मा प्रयत्न करने पर परमात्मा बन सकती है। जन्म से व्यक्ति ऊंच-नीच नहीं होता, यह तो आचार पर निर्धारित है। अतः मैं तीर्थंकर महावीर की शरण में जाकर आत्मोत्थान करूंगा। इससे बढ़कर मेरे लिये अन्य कोई श्रेयस्कर कार्य नहीं है। उसका रोम

रोम पुलकित होने लगा और भोगोपभोग का त्याग करने के लिये वह कृतसंकल्प हो गया। इस प्रकार चिन्तन करते हुए अपने शिष्यों के साथ मौर्यपुत्र ने अंतरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग कर ६५ वर्ष की अवस्था में दीक्षा धारण की।

८. अकम्पित

अकम्पित मिथिला के निवासी गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था। अकम्पित के चरणों में बैठकर ३०० छात्र विद्याध्ययन करते थे। आर्य सोमिल के यज्ञ महोत्सव का निमंत्रण प्राप्त कर ये भी अपनी छात्र मंडली के साथ मध्यमा पावा में पधारे थे। इनके हृदय में नरकलोक और नारकी जीवों के अस्तित्व का परिज्ञान हुआ तो वह भी उनके समवसरण की ओर चले। वह आत्मा की शाश्वत सत्ता के संबंध में विचारने लगे। 'आत्मा के गुण निजी सम्पत्ति है। वे कहीं बाहर से नहीं आते। इनकी उपलब्धि का अर्थ इतना ही है कि मिथ्यात्वभाव के हटते ही इन गुणों की अनुभूति होने लगती है। जैसे सूर्य पर से मेघ का आवरण हटते ही सूर्य का भास्वर प्रकाश व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की विभावपरिणति के दूर होते ही स्वभाव-परिणति उत्पन्न हो जाती है। जब साधक के हृदय में संसार की आशा और तृष्णा का अन्त हो जाता है, तब साधक चित्त सविकल्प-समाधि से निकलकर निर्विकल्प समाधि में पहुंच जाता है और अपने पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर डालता है। यह निर्विकल्प-समाधि भाव कहीं से आता नहीं है, यह तो स्वभाव का रमण है। अतएव मैं इस अवसर का लाभ उठाकर महावीर के समक्ष दीक्षा ग्रहण कर लूं।' अतएव अकम्पित ने समस्त परिग्रह त्याग कर ४७ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की और अष्टम गणधर का पद प्राप्त किया।

९. अचल भ्राता

महावीर और उनके प्रमुख शिष्यों के अंतरंग और बहिरंग-परिग्रह त्याग की चर्चा सर्वत्र व्याप्त थी। उनकी देशना जीवन के परत खोल रही थी। आत्मा की बद्धता और मुक्ता का कथन विचारशील व्यक्तियों को आकृष्ट कर रहा था। अतः अचल भ्राता भी तीर्थंकर महावीर के समवसरण में चलने की तैयारी करने लगे। कोशल निवासी हारीतगोत्रीय ब्राह्मण थे। उनकी माता का नाम नन्दा और पिता का नाम वासु था। ३०० छात्र उनके शिष्य थे। क्रियाकांड, यज्ञ-विज्ञान आदि

के ज्ञाता थे। अतः सोमिल आर्य के यज्ञोत्सव में सम्मिलित होने के लिये शिष्य परिवार सहित आये थे। उनके मन में पुण्य-पाप के अस्तित्व एवं उसके फलाफल के संबंध में आशंका थी। जीवन की दृष्टि उलझी हुई थी। वे शरीर, इन्द्रियों और मन के विषय में ही आनन्दानुभूति करते थे। अनेक परतों के नीचे दबे हुए जल स्रोत के समान उसकी चेतना का विशुद्ध अस्तित्व भी विकारों की परतों के नीचे दबा हुआ था। रूप, रस, गन्ध आदि भौतिक स्थितियों की अनुभूति को ही उसने सर्वस्व मान लिया था।

भगवान् महावीर का सान्निध्य पा उनके जीवन की धारा बदली और उन्होंने ४७ वर्ष की आयु में दीक्षा ली। ७२ वर्ष की आयु में मोक्षगमन किया।

१०. मेतार्य गणधर

'वत्स' देश में तुंगिक नाम का एक नगर था। वहां कौंडिल्य गोत्र के कुछ ब्राह्मण रहते थे। उनमें एक दत्त नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम था 'वरुणादेवा'। वरुणादेवा ने एक सुकोमल सौभाग्यवान पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम रखा मेतार्य। मेतार्य अनेक शास्त्रों में पारंगत बने। वैदिक शास्त्रों के अधिकारी विद्वान बने। ये तीन सौ शिष्यों के अध्यापक थे पर मन में एक सन्देह था, परलोक है या नहीं। अनेक प्रयत्न करने पर भी यह सन्देह नहीं मिट रहा था। इसे मिटाया भगवान महावीर ने। ये भी गौतम स्वामी के साथ 'सोमिल' के यहां मध्यमा पावा में यज्ञार्थ आये हुए थे। वहां से प्रभु के पास गये। अपनी शंका को मिटाकर प्रभु के पास अपने तीन सौ शिष्यों सहित संयमी बने। उस समय उनकी आयु ३७ वर्ष की थी। भगवान् महावीर के दसवें गणधर कहलाये। दस वर्ष छद्मस्थ रहे। ४७ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया। १६ वर्ष केवल पर्याय में रहे। अपनी ६२ वर्ष की आयु में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

११. प्रभास गणधर

राजगृह में रहने वाले बल ब्राह्मण की पत्नी का नाम था 'अतिभद्रा'। 'अतिभद्रा' के एक पुत्र हुआ। कर्क राशि और पुष्प नक्षत्र में पैदा होने के कारण पुत्र का नाम प्रभास रख दिया। युवावस्था प्राप्त करके 'प्रभास' वैदिक शास्त्रों के अधिकारी विद्वान बने। वे तीन सौ शिष्यों के अध्ययन-अध्यापन बहुत कुशलता से चलाते थे। अनेक विद्याओं में निष्णात होते हुए भी मन में यह सन्देह

था कि मोक्ष है या नहीं। उनके हृदय की इस गुप्त शंका का निवारण किया भगवान महावीर ने। शंका के मिटते ही अपनी १६ वर्ष की लघुवय में संयमी बन गये। ८ वर्ष छद्मस्थ रहे। २५ वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त किया। १६ वर्ष तक केवलपर्याय का पालन करके मात्र ४० वर्ष की वय में मोक्ष में विराजमान हो गये। भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में ये ग्यारहवें गणधर थे।

प्रश्न

१. भगवान् महावीर के गणधरों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करें।

२. किन्हीं चार गणधरों पर विस्तार से लिखें।

३. गणधर प्रभास की माता का क्या नाम था ?

४. इन्द्रभूति गौतम ने कितने शिष्यों के साथ दीक्षा ली ?

८

अन्तिम केवली आचार्य जंबू

वैराग्य

एक बार भगवान् महावीर के प्रथम-पट्टधर गणधर श्री सुधर्मा का राजा श्रेणिक के उद्यान में पदार्पण हुआ। राजगृही की जनता उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थी। प्रवचन सुनने के लिए सहस्रों व्यक्ति आने लगे। एक दिन नगरसेठ ऋषभदत्त का पुत्र जंबूकुमार भी प्रवचन सुनने के लिए आया। गणधर सुधर्मा के अमृत-वचनों से जंबूकुमार को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने गणधर सुधर्मा से निवेदन किया– ''भन्ते! मैं श्रीचरणों में साधना करना चाहता हूं। मेरा अंतःकरण विरक्त हो गया है।''

'शुभ काम में प्रमाद नहीं करना चाहिए'–श्री सुधर्मा ने उत्तर में कहा। जंबूकुमार ने तुरन्त माता-पिता की अनुमति के लिए घर की ओर प्रस्थान किया। उनका रथ नगर के दरवाजे के निकट पहुंचा ही था कि अकस्मात् एक विशाल शिलाखण्ड टूट कर रथ के अत्यन्त निकट आ गिरा। जंबू बाल-बाल बच गए। विरक्त जंबूकुमार के अन्तर्मन को इस आकस्मिक दुर्घटना ने झकझोर दिया। वे अपनी भावना को पूर्ण देखने के लिए आतुर हो उठे। अपनी भावना को संकल्प का रूप देने के लिए वे पुनः गणधर सुधर्मा के निकट आए। वंदना कर आजीवन ब्रह्मचर्य की आराधना के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो गए।

विवाह

उनके वैराग्य और संकल्प की बात पारिवारिक जनों को ज्ञात हुई। वे अपने लाल को ऐसे दीक्षित नहीं देखना चाहते थे। उन्होंने अपार सम्पत्ति और सांसारिक सुखों का प्रलोभन जंबूकुमार को दिया, साथ ही साधुचर्या की कठोरता का चित्र भी उपस्थित किया। जंबूकुमार ने सबका समुचित समाधान किया, परन्तु माता-पिता का अनुराग प्रबल था। उन्होंने नगर की प्रमुख आठ श्रेष्ठी-कन्याओं से जंबूकुमार का विवाह कर दिया। विवाह में दहेज का अपार धन लेकर उनके पिता ऋषभदत्त अपने घर आ गए।

प्रभव चोर का आगमन

दहेज की चर्चा राजगृही के प्रसिद्ध चोर प्रभव ने सुनी। उसके पास ५००

साथी और अवस्वापिनी और उद्घाटिनी दो विद्याएं थीं। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा वह सबको निद्रा दिला सकता था और उद्घाटिनी विद्या के द्वारा बड़े से बड़ा ताला पलक झपकते खोल सकता था। अपार सम्पत्ति को चुराने वह उसी रात्रि में ऋषभदत्त के घर पहुंचा। विद्या के बल से सबको नींद दिला दी और उसके साथियों ने गठरियों में अपार सम्पत्ति को बांध लिया। वह अपने साथियों के साथ चलने को तैयार हुआ, किन्तु सबके पांव वहीं भूमि पर चिपक गए। वह आश्चर्य में डूबा सोचने लगा, क्या सबको एक साथ लकवा हो गया है ? वे प्रतिमा की तरह वहां क्यों खड़े हैं ?

दिल बदल गया

प्रभव इस आकस्मिक घटना के मूल को खोजने लगा। इधर-उधर देखा, परन्तु कहीं भी उसे कोई चिह्न नहीं मिला। सहसा उसकी दृष्टि ऊपर की ओर गई, जहां कुछ प्रकाश था। ऊपर मंजिल में पहुंचते ही उसके कानों में मन्द-मन्द ध्वनि पड़ी। छुपकर देखने पर प्रभव ने पाया कि जंबूकुमार अपनी पत्नियों के साथ चर्चा में लीन है। वैराग्य भरी चर्चा को सुनकर प्रभव का दिल बदल गया। वह मन ही मन सोचने लगा– ''धिक्कार है मुझे! जिस धन को जंबूकुमार छोड़ने को आतुर है, उसी धन को हड़पने मैं उद्यत हुआ हूं।'' वह जंबू के साथ ही साधु बनने के लिए लालायित हो उठा। उसने नीचे आकर अपने साथियों को समझाया। वे भी दीक्षा लेने के लिए जंबूकुमार के साथ तैयार हो गए।

प्रातः जंबूकुमार और उसके माता-पिता, आठ पत्नियां तथा उनके माता-पिता, प्रभव और उसके ५०० साथी, इस प्रकार ५२८ व्यक्ति आर्य सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुए।

ये वही आचार्य जंबू हैं, जिनके माध्यम से गणधर सुधर्मा ने भगवान् महावीर की वाणी को प्रकट किया। वे इस काल के अन्तिम केवली एवं मोक्षगामी थे।

प्रश्न :

१. जम्बू को वैराग्य कैसे हुआ ?
२. माता-पिता ने जम्बू से क्या कहा ?
३. चोर धन की गठरियों को क्यों नहीं उठा पा रहे थे ?
४. प्रभव के दिल बदलने का कारण क्या था ?
५. अवस्वापिनी विद्या से प्रभव क्या करता था ?

६

आचार्य हरिभद्र सूरि

जन्म

आचार्य हरिभद्र अनेक विशेषताओं के धनी थे। सहस्रों वर्षों के बाद भी उनका जीवन प्रकाशमान नक्षत्र की तरह जगमगा रहा है।

ब्राह्मण-परिवार में आचार्य हरिभद्र का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगा था। वे १४ प्रकार की विद्याओं के निष्णात विद्वान् थे। चितौड़नरेश जितारी के वहां उनको राजपुरोहित का स्थान प्राप्त था। राजदरबार में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

विद्या का अहंकार

हरिभद्र पण्डितों के भी अग्रणी थे। उन्हें अपने बुद्धिबल पर भारी गर्व था। वे शास्त्र-विशारद विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने में सदा तत्पर रहते थे। ज्ञान-भार से कहीं पेट फट न जाए इसलिए वे अपने पेट पर स्वर्णपट बांध रखते थे। उनकी दृष्टि से कोई भी विद्वान् उनको पराजित करने वाला दुनिया में नहीं था। किसी के द्वारा उच्चारित वाक्य या पद्य का अर्थ समझ में न आने पर उनका शिष्यत्व स्वीकार करने के लिए हरिभद्र प्रतिज्ञा-बद्ध थे।

एक बार हरिभद्र कहीं जाते समय जैन उपाश्रय के नीचे से निकले। जैन उपाश्रय में उस समय साध्वी-संघ की प्रवर्तिनी, 'महत्तरा याकिनी' संग्रहिणी गाथा का स्वाध्याय कर रही थी –

''चक्कि दुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसव चक्की य।।''

श्लोक की स्वर लहरियां हरिभद्र के कानों से टकराई। उन्होंने पुनः-पुनः ध्यानपूर्वक इसे सुना। मन-ही-मन चिन्तन चला। फिर भी अर्थ समझ में नहीं आया। अभिमानी हरिभद्र उपाश्रय के अन्दर गए, याकिनी महत्तराजी से थोड़ी दूर खड़े होकर बोले–'इस स्थान पर चकचकाहट किस बात का हो रहा है ? अर्थहीन वाक्य का पुनरावर्तन क्यों किया जा रहा है'? हरिभद्र ने यह प्रश्न अति वक्र भाषा में प्रस्तुत किया था।

अहं पिघल गया

याकिनी महत्तराजी धीर-गंभीर, आगम-विज्ञ और व्यवहार-निपुण साध्वी थीं। उन्होंने मृदु स्वरों में कहा – 'नूतनं लिप्तं चिगचिगायते' नया लिपा हुआ आंगन चकचकाहट करता है। यह शास्त्रीय पाठ है। इसे गुरुगम्य ज्ञान बिना समझा नहीं जा सकता। याकिनी द्वारा दिया गया स्पष्ट और सारगर्भित उत्तर सुनकर अभिमानी हरिभद्र का अहं पिघलकर बह गया। वे झुके और बोले – 'साध्वीश्रीजी! कृपा करके आप मुझे इसका अर्थ समझाइए।'

महत्तराजी ने अर्थ बोध देते हुए कहा – 'इस भरत क्षेत्र में दो चक्रवर्ती, पांच वासुदेव, पांच चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती एक वासुदेव, दो चक्रवर्ती एक वासुदेव और फिर एक चक्रवर्ती हुए है।

साध्वी याकिनी महत्तराजी से अर्थ-बोध प्राप्तकर अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार हरिभद्र ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। एक नारी के सामने इस तरह अपनी हार की प्रामाणिकता-पूर्वक स्वीकार कर लेना हरिभद्र की विशिष्ट महत्ता का परिचायक था।

दीक्षा

याकिनी महत्तराजी की प्रेरणा से जैन-दर्शन का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्वान् हरिभद्र आचार्य जिनदत्त सूरी के पास गए और उन्होंने अपनी जिज्ञासा उनके सामने रखी। आचार्य जिनदत्त ने कहा – 'पूर्वापर सन्दर्भ सहित सिद्धांतों के पद्यों के समझ लेने के लिए मुनि-जीवन को स्वीकार कर लेना आवश्यक है।' विद्वान् हरिभद्र सच्चे अर्थ में जिज्ञासु थे। उन्होंने दीक्षा लेने की भावना प्रकट की। अपने सम्प्रदाय के प्रति दृढ़ आस्थाशील ब्राह्मणों द्वारा राजपुरोहित हरिभद्र के इन विचारों का विरोध होना स्वाभाविक था। वैसा ही हुआ, किसी ने भी उनको समर्थन नहीं दिया। विद्वान् हरिभद्र बोले –

पक्षपातं परित्यज्य मध्यस्थी भूयमेव च।
विचार्य युक्तियुक्त यद् ग्राह्यं त्याज्यमयुक्तिमत्॥

पक्षपात को छोड़कर मध्यस्थ भाव-भूमि पर विचार करें। युक्ति-युक्त वचन ग्राह्य हैं और अयुक्तिपूर्ण वचन त्याज्य हैं।

न वीतरागादपरोऽस्ति देवो न ब्रह्मचर्यादपरचरित्रम्।
नाभीतिदानात्परमस्ति दानं चारित्रिणो नापरमस्ति पात्रम्॥

वीतराग से परे कोई देव नहीं है। ब्रह्मचर्य से श्रेष्ठ आचार नहीं है। अभयदान से श्रेष्ठ कोई दान नहीं है। चारित्र गुणमण्डित पुरुष से उन्नत कोई पात्र नहीं है।

विवेक-बुद्धि से अपने समाज को अनुकूल बनाकर उनसे सहमति प्राप्त कर विद्वान् हरिभद्र विद्याधर गच्छ के आचार्य जिनदत्त के पास जैन मुनि बने। राजपुरोहित से धर्म पुरोहित बन गए। साध्वी याकिनी को उन्होंने धर्म जननी के रूप में स्वीकार किया और उनके प्रति कृतज्ञभाव प्रकट करते हुए कहा - 'मैं शास्त्र-विशारद होकर भी मूर्ख हूं। सुकृत के संयोग से याकिनीजी द्वारा मुझे बोध प्राप्त हुआ है।'

हरिभद्र वैदिक दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् पहले से ही थे। जैन मुनि बनकर उन्होंने जैन दर्शन का भी गंभीरता से अध्ययन किया।

हरिभद्र को आघात

हंस और परमहंस हरिभद्र के दो विद्वान् शिष्य थे। वे दोनों हरिभद्र की बहिन के लड़के थे। बौद्ध दर्शन का विशेष अध्ययन करने के लिए वे बौद्ध विद्यापीठ में गए। साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण बौद्ध विद्यापीठ में जैनों का अध्ययन-अध्यापन निषिद्ध था, अतः हंस, परमहंस को अपने को गुप्त रखकर वहां अध्ययन करना पड़ रहा था। उनका अध्ययन लगभग समाप्ति पर था। छोटी-सी भूल के कारण भेद खुल गया। भेद खुल जाने का अत्यन्त कटु परिणाम सामने दिखाई दे रहा था। हंस, परहंस दोनों प्राण बचाकर वहां से भागे। हजार प्रयत्न करने पर भी हंस बच न सका। उसकी मृत्यु मार्ग में हो गई। परमहंस मुश्किल से हरिभद्र के पास पहुंचा। पर गहरी थकान के बाद शिष्य का जीवन पूर्ण-विश्राम की कामना कर रहा था। हरिभद्र के देखते-देखते परमहंस का प्राण-दीप भी बुझ गया।

दोनों प्रिय शिष्यों की मृत्यु से हरिभद्र को गहरा आघात लगा। वे कोपाविष्ट होकर अपने तन्त्र-बल से १४४४ बौद्ध छात्रों को बुलाकर तेल के कडाह में तलने का महान् हिंसा का उपक्रम सोचने लगे। इस हिंसात्मक घटना की सूचना आचार्य जिनदत्त को मिली। उन्होंने कोपाविष्ट हरिभद्र को प्रतिबोध देने के लिए दो मुनियों को तीन श्लोक देकर भेजा। आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित इन श्लोकों को पढ़ते ही हरिभद्र का कोप शांत हो गया। और उन्होंने इन श्लोकों के आधार पर समरादित्य काव्य की रचना की।

श्रुतानुश्रुत-परम्परा के अनुसार क्रुद्ध हरिभद्र को प्रतिबोध देनेवाली याकिनी महत्तराजी थी। रात्री के समय आचार्य हरिभद्र विद्याबल से १४४४ बौद्ध भिक्षुओं को व्योममार्ग से आकृष्ट कर महान् हिंसा का उपक्रम कर रहे थे। इस घटना की सूचना मिलते ही महत्तराजी ने तत्काल उपाश्रय में जाकर द्वार खटखटाए और कहा – 'मुझे प्रायश्चित्त लेना है।' आचार्य हरिभद्र ने भीतर से ही प्रत्युत्तर दिया – 'रात्रि के समय में साध्वियों का प्रवेश निषिद्ध है। आलोचना कल कर लें।'

महत्तराजी अपने आग्रह पर दृढ़ थीं। वह बोलीं – 'इस जीवन का क्या भरोसा। प्रभात होने तक सांस रुक गया तो मैं अपने दोष का प्रायश्चित्त किए बिना विराधक हो सकती हूं। कृपया द्वार अभी खुलना चाहिए।'

महत्तराजी के लिए बहुत ऊंचा स्थान आचार्य हरिभद्र के मानस में था। वे उनके कथन का प्रतिवाद न कर सके। द्वार खुलते ही आचार्य हरिभद्र के सामने उपस्थित होकर महत्तराजी बोलीं – 'प्रमादवश मेरे पैर से मेंढक की हत्या हो गई है। मुझे प्रायश्चित्त प्रदान करें।' आचार्य हरिभद्र ने दोष-विशुद्धि-हेतु उन्हें तीन उपवास दिए। तब महत्तराजी ने आचार्य हरिभद्र की हिंसक वृत्ति को शान्त करने और उन्हें प्रतिबोध देने हेतु गंभीर किंतु विनम्र भाषा में निवेदन किया – 'मुझे एक मेंढक की अपघात के प्रायश्चित्त-स्वरूप तीन उपवास मिले हैं। आपको इस महान हिंसा का क्या दण्ड मिलेगा?' आचार्य हरिभद्र एक वाक्य में ही संभल गए। डूबती नैया किनारे लग गई। छूटती पतवार हाथ में थम गयी।'

उन्होंने सभी १४४४ बौद्ध शिष्यों को अभयदान दिया और प्रायश्चित्त स्वरूप १४४४ ग्रंथों की रचना का संकल्प किया। वे सब ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान में जो उपलब्ध हैं वे भी कम नहीं हैं।

वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थों में समराइच्चकहा, अनेकान्त जयपताका, अनेक आगमों की टीकाएं, योगबिन्दु, योग दृष्टि-समुच्चय, षड्दर्शन समुच्चय, योग शतक और शास्त्र-वार्ता समुच्चय आदि आचार्य हरिभद्र के ग्रंथ ज्ञान के अपूर्व भण्डार हैं।

आचार्य हरिभद्र ने अपने कई ग्रंथों में अपना परिचय याकिनीसूनु के नाम से दिया है।

आचार्य हरिभद्र का युग पक्षपात का युग था। उस समय में भी उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट उद्घोष किया –

पक्षमातों न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ।।

वीर-वचन में मेरा पक्षपात नहीं। कपिल मुनियों से मेरा द्वेष नहीं। जिनका वचन तर्क-युक्त है—वही ग्राह्य है।

जीवन के संध्या-काल में उन्होंने अनशन की स्थिति को स्वीकार किया। अध्यात्म भाव में लीन होकर वे परम समाधि के साथ स्वर्ग को प्राप्त हुए।

समन्वय वृत्ति के परिपोषक आचार्यों में हरिभद्र का नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है।

हरिभद्र का समय प्राचीन विद्वानों के अनुसार वि.सं. ५३० से ५८५ था। मुनि जिनविजयजी आदि आधुनिक विद्वानों ने उनका समय वि.सं. ७५७ से ७५८ तक निर्णीत किया है। इस आधार पर हरिभद्र का समय विक्रम की ८वीं शताब्दी होता है।

प्रश्न :

१. आचार्य हरिभद्र गने दीक्षा किसके साथ ली ?

२. उन्होंने बौद्ध शिष्यों की हिंसा का उपक्रम क्यों सोचा ?

३. हरिभद्र ने कितने ग्रंथों की रचना का संकल्प किया था ?

४. हरिभद्र ने प्रतिबोध किससे प्राप्त किया था ?

५. हरिभद्र के कई प्रमुख ग्रंथों के नाम लिखें।

६. हरिभद्र कितनी विद्याओं में निष्णात थे ?

१०

आचार्य श्री मघवागणी

जन्म

मघवागणी तेरापंथ के पंचम आचार्य थे। वे राजस्थान के अन्तर्गत बीदासर (जिला चूरू) के निवासी थे। उनका जन्म वि. सं. १८९७, चैत्र शुक्ला एकादशी को बीदासर के बेगवानी परिवार में हुआ। मघा नक्षत्र में जन्म होने के कारण उनका नाम 'मघराज' रखा गया। उनके पिता का नाम पूरणमलजी तथा माता का नाम बन्नाजी था।

बचपन

वि. सं. १९०८ में युवाचार्य पद के रूप में जयाचार्य का चतुर्मास बीदासर में था। जेष्ठ बन्धु मुनि स्वरूपचंदजी आदि बारह संत उनके साथ थे। उसी चतुर्मास में बन्नाजी तथा उनके बालक मघराज के मन में संयम की भावना उत्पन्न हुई। मघराज के बाल-साथियों को जब इस बात का पता चला कि वे दीक्षा ले रहे हैं तब उन्होंने खेल ही खेल में उस स्थिति को अपने खेल का विषय बना लिया।

एक बार वे अपने बाल साथियों के साथ खेल रहे थे। तब एक बालक ने 'मघवा' को सम्बोधित करते हुए कहता 'मत्थेण वंदामि मघजी स्वामी !' बालक मघराज कुछ नहीं बोले। पर कोई दूसरा बालक उनका पार्ट अदा करता हुआ कहता 'जी' भाई 'जी'।

तब सारे लड़के एक साथ बोलते – 'थारे पातरे में घी – बैठो ठण्ढो पाणी पी।'

जयाचार्य ने उन बालकों को इस प्रकार खेलते हुए कई बार देखा और उन्होंने उसे एक शुभ संकेत माना।

दीक्षा में बाधा

बालक मघराज का वैराग्य बढ़ता गया, परिवार पर दीक्षा की प्रार्थना करने का दबाव पड़ा। आखिर बन्नाजी के प्रार्थना करने पर युवाचार्य ने बालक मघराज को दीक्षा की आज्ञा प्रदान कर दी। दीक्षा की तिथि के दिन आपने अपने काका के साथ बैठकर भोजन किया। उसके बाद तिलक करवाया, परिजनों से विदा ली और दीक्षा के लिए घर के बाहर खड़ी घोड़ी पर बैठकर जुलूस के साथ प्रस्थान कर दिया।

उसी समय किसी व्यक्ति ने मघवागणी के काका को कुछ गलत बात कहकर बहका दिया। वे उसकी बातों में इतने बहक गए कि उन्होंने मन ही मन यह निर्णय कर लिया कि आज इसकी दीक्षा नहीं होने दूंगा।

जुलूस ज्योंही गढ़ के समीप हुंचा कि वे सबको चीरते हुए आगे बढ़े और किसी को कुछ कहने का मौका ही नहीं मिला कि उन्होंने बालक मघराज को घोड़ी पर से खींच कर उतार लिया और गोदी लेकर गढ़ में घुस गए। वैरागी मघराज ने जब काका से इस घटना का कारण पूछा तो काका ने क्रोध में एक ही जवाब दिया– 'मुझे दीक्षा नहीं दिलानी है।' बाहर खड़ी जनता भी चकित थी। उन्होंने जनता को अपने-अपने घर जाने को कह दिया ।

लोगों ने उनको बहुत समझाया, परन्तु उन पर कोई असर नहीं हुआ। जयाचार्य को इस बात का पता चला, उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उस दिन दीक्षा न हो सकी। युवाचार्य दीक्षास्थल से अपने स्थान पधार गये और दूसरे दिन लाडनूं की ओर विहार कर दिया। काका ने बालक को नाना प्रकार से बहकाने का प्रयत्न किया, परन्तु काका के सभी प्रयत्न विफल हुए, प्रत्युत वे अपने काका को समझाने में सफल हो गये। अवसर देखकर वे फिर अपनी माता के साथ लाडनूं दर्शनार्थ गये और दीक्षा की पुनः प्रार्थना की। जयाचार्य ने सारी स्थिति को जानकर वि.सं. १९०८, मृगसिर कृष्णा द्वादशी का दिन दीक्षा के लिए घोषित कर दिया। हजारों की उपस्थिति में मघवागणी की दीक्षा हो गई।

आकर्षक व्यक्तित्व

मघवागणी का व्यक्तित्व होनहार साधु का व्यक्तित्व था। छोटी अवस्था में दीक्षित होने पर भी वे बड़े गम्भीर थे। गौरवर्ण, भव्य आकृति, आंखों का लावण्य, शांतमुद्रा–यह था उनका बाह्य स्वरूप जो हर व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करता था। अष्टम आचार्य कालूगणी, जो कि मघवागणी के पास दीक्षित हुए थे, अपने संस्मरणों में अनेक बार सुनाया करते थे कि उन्होंने मघवागणी जैसा सुन्दर आकृतिवाला व्यक्ति नहीं देखा। मघवागणी का आन्तरिक व्यक्तित्व भी बहुत निर्मल था। वे बड़े पाप-भीरु थे। उनका हृदय बालक की तरह सरल था। तेरापंथ में संस्कृत के वे प्रथम पण्डित कहे जाते थे। लिपि-कौशल भी उनका बहुत सुन्दर था। उनकी बुद्धि इतनी स्थिर थी कि वे एक बार कंठस्थ किए हुए ग्रंथ को प्रायः भूला नहीं करते थे।

श्रीपंच

वे साधुओं में भी सर्वप्रिय व्यक्ति थे। इसका उदाहरण एक घटना से मिलता है। एक बार बाल मुनि कालूजी (रेलमगरा के) से कोई गलती हो गई।

मामला पंचों के सामने गया। जब निर्णय सुनाया जाने वाला था, तब मुनि कालूजी ने आचार्यश्री से प्रार्थना की कि मुझे निष्पक्ष न्याय मिल सकेगा, ऐसी मुझे आशा नहीं है। जयाचार्य ने कारण पूछा–तुझे किस पर विश्वास है? क्या तुझे मघजी का निर्णय मान्य है? उन्होंने तत्काल स्वीकृति दे दी। उसी दिन से जयाचार्य ने मुनि मघराजजी को पांच पंचों के ऊपर 'श्रीपंच' स्थापित कर दिया। उस समय मघवागणी की अवस्था मात्र १४ वर्ष की थी। चौबीस वर्ष की (वि.सं. १९२०), अवस्था में आपको युवाचार्य स्थापित कर दिया गया।

आचार्य काल

वि.सं. १९३८, भाद्रपद शुक्ला द्वितीया को जयपुर में आप तेरापंथ के आचार्य बने। उस समय आपकी अवस्था ४१ वर्ष की थी।

तेरापंथ के आचार्यों में सबसे कोमल प्रकृति के आचार्य थे। वे दूसरों से कम से कम सेवा लेते थे। अनेक बार गर्मी की रात्रियों में जब वे पट्ट पर सोया करते थे तो गर्मी लगने पर स्वयं उठकर अपना बिछौना अपने हाथ से लेकर नीचे ही सो जाते थे। जब साधुओं को पता चलता तो वे नम्रता से निवेदन करते कि आपने हमको क्यों नहीं जगाया ? मघवागणी उनको फरमाते कि तुम्हें नींद से जगाता उससे अच्छा यही था कि मैं स्वयं वहां जाकर सो गया। आप किसी को कड़ा उपालंभ नहीं देते थे। किसी की गलती होने पर मधुर शब्दों में कहा करते - तुम गलती करते हो तब मुझे कहना पड़ता है। इस प्रकार मघवागणी का शासन-काल बहुत ही सुन्दर रहा।

उनके शासन-काल में एक सौ उन्नतीस दीक्षाएं हुईं, उनमें छत्तीस साधु और तिरासी साध्वियां थी। मघवागणी ने स्वयं बाईस साधु और पैंतालीस साध्वियों को दीक्षा प्रदान की। शेष दीक्षायें साधु-साध्वियों द्वारा ही दी गयीं। उनकी अन्तिम अवस्था के समय संघ में इकहत्तर साधु और तिरानवे साध्वियां थी।

मघवागणी का स्वर्गवास वि. सं. १९४९, चैत्र कृष्णा पञ्चमी के दिन सरदारशहर में हुआ था।

प्रश्न :

१. मघवागणी ने अपने हाथ से कितनी दीक्षाएं दी ?
२. मघवागणी के माता-पिता का क्या नाम था ?
३. मघवागणी को आचार्य पद कहां दिया गया और उस समय उनकी अवस्था कितनी थी ?
४. उनके जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डालो।

११

आचार्य श्री माणकगणी

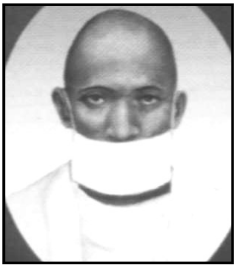

माणकगणी तेरापंथ के छठे आचार्य थे। वे जयपुर के श्रीमाल जाति खारैड़ गौत्र के थे। आपके पिता का नाम लाला हुकुमचन्दजी तथा माता का नाम छोटांजी था। आपका जन्म वि. सं. १९१२ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी को हुआ था। आप जब करीब दो वर्ष के ही थे तब आपके पिता की हत्या सांगानेर के पास डाकुओं द्वारा कर दी गई थी। वि. सं. १९२८ का चतुर्मास जयाचार्य ने जयपुर में किया। उस चतुर्मास में बालक माणकलाल को वैराग्य हुआ। वे दीक्षा लेना चाहते थे, किन्तु उनके परिवार वालों की आज्ञा प्राप्त नहीं हुई। चतुर्मास के बाद जयाचार्य जब कुचामन पधारे तो उनके परिवार वाले लाला लक्ष्मणदासजी रास्ते की सेवा में थे। बात के प्रसंग में जयाचार्य ने लालाजी से कहा–'यदि तुम्हारा माणक दीक्षा ले तो दीपता साधु होगा।' लालाजी ने कहा–'यह तो हमारे लिए सौभाग्य की बात है। आप हमारे एक बालक के लिए श्रीमुख से ऐसे शब्द फरमा रहे हैं, किन्तु महाराज ! दीक्षा विराग के बिना नहीं हो सकती।'

जयाचार्य ने कहा - 'यदि बालक माणक दीक्षा ले तो तुम बाधक तो नहीं बनोगे ?

लालाजी ने कहा–महाराज ! यह शहर में रहने वाला है, साधुपन के कष्टों को सहन करना कठिन काम है। कंधों पर भार लेकर मार्ग में नहीं चला जा सकता।'

जयाचार्य ने कहा–'ओघा तो उठा लेगा। मेरा भार तो मघजी संभाल लेंगे, परन्तु मघजी का भार संभालने वाला भी तो चाहिए?'

जयाचार्य के इन शब्दों ने लालाजी को काफी प्रभावित किया और तत्काल उन्होंने दीक्षा की आज्ञा दे दी। उनकी दीक्षा लाडनूं में वि. सं. १९२८, फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन हुई। उस समय उनकी आयु साढ़े सोलह वर्ष

की थी। वे प्रकृति से नम्र थे। उनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। वे हर बात को बड़ी शीघ्रता से ग्रहण कर लेते थे। थोड़े ही वर्षों में उन्होंने सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। इन गुणों से प्रभावित होकर जयाचार्य ने उनको दीक्षा के तीन वर्ष बाद अग्रणी (सिंघाड़पति) बना दिया।

वि. सं. १९५४, चैत्र कृष्णा द्वितीया को मघवागणी ने उन्हें चतुर्विध संघ के सामने विधिवत् अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। वे युवाचार्य-अवस्था में केवल चार दिन रहे, पांचवें दिन मघवागणी का स्वर्गवास हो गया।

मोतियों की उछाल

नव नियुक्त युवाचार्य माणकलालजी ने आचार्यवर के श्री चरणों में ज्योंही प्रथम वंदन किया और गुरुवर ने वात्सल्य भरी दृष्टि के साथ उनके सर पर अपना वरदहस्त रखा त्योंही जन उल्लास के समुद्र में एक ज्वार छा गया। जय-विजय के नारों से सारा वातावरण गुंजित हो उठा।

हर्षोद्रेक के उन क्षणों में लोगों ने चकित नेत्रों से देखा कि धर्म परिषद् में मोतियों की उछाल की जा रही है। ऐसे किसी प्रसंग पर उछाल करने का यह प्रथम अवसर ही था। मोतियों की उछाल का तो सर्वथा नवीन कार्य था। शायद कालूरामजी जम्मड़ और श्रीचंदजी गधैया के संयुक्त चिन्तन की परिणति थी।

आचार्य-अवस्था

माणकगणी वि. सं. १९४९, चैत्र कृष्णा अष्टमी को सरदारशहर में आचार्य-पद पर विधिवत् आसीन हुए। उनका वर्ण गौर, कद लम्बा, कण्ठ मधुर व तेज था। शारीरिक प्रकृति से वे इतने कोमल थे कि सर्दी (जुकाम) होने पर एक लौंग लिया करते थे। यदि कभी इससे अधिक ले लेते तो उन्हें गर्मी का आभास होने लगता। उनकी रुचि देशाटन की ओर विशेष थी। पाट विराजते ही उन्होंने थली के सभी क्षेत्रों में पदार्पण किया और उसके बाद हरियाणा में।' तेरापंथ के आचार्यों में सर्वप्रथम आप ही हरियाणा में पधारे थे, परन्तु उनका शासनकाल ५ वर्ष ७ मास का ही रहा। इसलिये वे अधिक देशाटन नहीं कर सके। वि. सं. १९५४ में आपका चातुर्मास सुजानगढ़ में था। भाद्रमास के बाद शहर में ज्वर व अतिसार का रोग फैल गया, उसका असर माणकगणी के शरीर पर भी पड़ा। वे अस्वस्थ रहने लगे अनेक उपचार करने पर भी स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हो सका। उनके शरीर की अवस्था को देखकर एक दिन मुनि मगनलालजी

(मंत्रीमुनि) ने उनसे प्रार्थना की कि आप पीछे की व्यवस्था कर दें, परन्तु उनको यह विश्वास नहीं था कि वे इतने जल्दी चले जायेंगे। वे अपने पीछे किसी आचार्य की नियुक्ति नहीं कर सके। वि. सं. १९५४, कार्तिक कृष्णा ३ को सुजानगढ़ चतुर्मास में उनका ४२ वर्ष की अवस्था में अचानक स्वर्गवास हो गया। उनके आचार्य-काल में ४० दीक्षाएं हुईं, उनमें १५ साधु और २५ साध्वियां थी।

प्रश्न :

१. माणकगणी की दीक्षा कहां हुई ?

२. उनका शासन-काल कितने वर्षों का रहा ?

३. उनका स्वर्गवास किस महीने में हुआ ?

४. उनके जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डालो।

१२

आचार्य डालचन्दजी

जन्म

आचार्य डालचन्दजी तेरापंथ के सप्तम आचार्य थे। उनका जन्म कालीदास की नगरी उज्जयिनी में वि.सं. १९०९, आषाढ़ शुक्ला ४ को हुआ था। उनके पिता का नाम कनीरामजी तथा माता का नाम जड़ावांजी था। आपके पिता का देहान्त आपकी बाल्यावस्था में ही हो गया था।

वैराग्य भावना

बालक डालचन्द की अवस्था लगभग ग्यारह वर्ष की थी तब आपकी माता ने पेटलावद में साध्वीश्री गोमांजी के पास दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इस बात का आपके मन पर भी असर हुआ। धीरे-धीरे आपकी वैराग्य भावना बढ़ती गई। उन दिनों मुनि हीरालालजी (बड़े) का चतुर्मास इन्दौर में था। वहां जाकर आपने प्रतिक्रमण आदि तत्त्व-ज्ञान कंठस्थ किया।

दीक्षा

बालक डालचन्द की दीक्षा के लिए उनके परिवार वालों ने मुनि हीरालालजी से प्रार्थना की। यद्यपि उस समय व्यक्तिगत शिष्य बनाने पर प्रतिबन्ध था, फिर भी आचार्य का शिष्य बनाकर दीक्षा दी जा सकती थी। इसी आधार पर मुनिश्री ने उनकी तीव्र वैराग्य भावना से प्रभावित होकर वि. सं. १९२३, भाद्रपद कृष्णा द्वादशी को उन्हें दीक्षित कर लिया।

साहसी व्यक्तित्व

विक्रम सं. १९४३ में मघवागणी का चतुर्मास उदयपुर में था। उस समय आप भी मघवागणी के साथ थे। वहां तेरापंथ का विरोध तीव्र था। मघवागणी ने साधुओं को बुलाकर कहा – 'यहां अपने द्वेषी बहुत हैं, अतः कोई किस प्रकार की गलती निकाले तो 'ठीक' कह कर समाप्त कर देना चाहिए, मार्ग में किसी से वाद-विवाद न किया जाये।'

इस बात का पता विरोधी लोगों को भी किसी प्रकार से हो गया। वे जान-बूझकर सन्तों को छेड़ने लगे। एक बार मुनि डालचन्दजी और मुनि हंसराजजी पानी लेने के लिए साथ-साथ जा रहे थे, उस समय एक व्यक्ति जोर-जोर से कहने लगा – 'देखिए ! साधु मार्ग में पानी गिराते चल रहे हैं। साधु को इस तरह पानी गिराते हुए चलना शास्त्र के विरुद्ध है।'

मुनि डालचन्दजी ने ठहर कर पूछा – 'श्रावकजी! क्या कह रहे हैं ?' तब वह और भी जोर से बोला – 'क्या कोई झूठ थोड़े ही कह रहा हूं, पात्र में से पानी ढुलता जा रहा है और तुम ध्यान ही नहीं दे रहे हो, कल्पाकल्प का कुछ पता भी है तुम लोगो को ?'

वह इस प्रकार बोला तो कुछ भीड़ इकट्ठी हो गई। मुनि डालचंदजी ने सोचा कि इसका स्पष्टीकरण किए बिना आगे जाना उचित नहीं होगा। वे एक चौकी पर चढ़े और पात्र को झोली से निकाल कर लोगों से बोले – 'देखिए, यह भाई कह रहा है कि हम पानी गिराते चल रहे हैं, परन्तु हमारे पात्र में पानी की एक बूंद भी नहीं है।' झूठ का पता लगते ही सारे लोग उस व्यक्ति की तरफ घृणा की दृष्टि से देखने लगे। डालमुनि बाद में पानी लेकर स्थान पर आए और तत्काल सारी घटना मघवागणी को निवेदित की। मघवागणी ने घटना को सुनकर कहा – 'तुमने अच्छा किया। समय पर इस प्रकार साहस व बुद्धि का परिचय देना ही चाहिए।'

कच्छ के पूज्य

डालगणी का विहार क्षेत्र मुनि-अवस्था में कच्छ अधिक रहा। उनको कच्छ का विशेष आकर्षण था। कच्छ की जनता भी उनसे बहुत प्रभावित थी। वहां के श्रावकों ने राजस्थान में आकर माणकगणी से उन के लिए कच्छ की प्रार्थना की थी। कच्छ में उनका तीन बार पदार्पण हुआ था, वे उस समय 'कच्छ के पूज्य' कहलाते थे।

आचार्य का चुनाव

माणकगणी का अचानक स्वर्गवास हो गया। वे अपने पीछे किसी आचार्य की नियुक्ति नहीं कर सके। यह संघ के लिए बहुत ही चिन्ता का विषय बन गया था। सारा संघ इसी चिन्ता में था कि इस समस्या का समाधान कैसे किया जाए? उस समय मुनि मगनलालजी (मंत्री मुनि) व मुनि कालूजी (आठवें आचार्य) ने बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया। चतुर्मास समाप्त होने पर लाडनूं में सारा संघ

एकत्रित हुआ। संघ मुनि कालूजी (बड़े) की प्रतीक्षा कर रहा था। उनका चतुर्मास उदयपुर था। वे संघ के बुजुर्ग व अनुभवी साधुओं में थे। उनके आते ही संघ में एक उत्साह की लहर दौड़ आई। उसी दिन मध्याह्न में कुछ साधुओं से विचार-विमर्श हुआ और आगामी कार्य के लिए एक रूपरेखा बना दी गई। उसी के आधार पर सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् सभी साधुओं की सभा बुलाने व उसमें भावी आचार्य का चुनाव किए जाने की घोषणा की गई।

कालूजी स्वामी पर भार

पूर्व सूचना के अनुसार सारा साधुवर्ग एकत्रित हुआ। श्रावको को कुछ समय के लिए वहां रहने की मनाही कर दी गई। वे सब बाहर निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे। सभा में अनेक प्रश्न सामने आए। उन पर चर्चा हुई। आखिर सभी साधुओं ने मुनि कालूजी पर ही यह भार छोड़ दिया कि वे किसी साधु का नाम आचार्य के लिए घोषित कर दें। वही सबको मान्य होगा।

नाम की घोषणा

वि. सं. १९५४, पोष शुक्ला ३ को मुनि कालूजी ने संघ व आचार्यों का गुणगान करते हुए कहा – 'हमारा शासन भगवान् महावीर का शासन है। उसका संचालन करने के लिए आज हमें एक आचार्य की आवश्यकता है। मैंने प्रमुख साधुओं के साथ विचार-विमर्श कर लिया है। आचार्य-पद पर किसी व्यक्ति की उद्घोषणा करने के लिए आप सबने मुझे जो यह भार दिया है, उसके लिए मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। आप सबकी अनुमति का उपयोग करते हुए मैं अपने संघ के लिए सप्तम आचार्य पद के लिए मुनि डालचन्द जी का नाम घोषित करता हूं। इस समय वे यहां उपस्थित नहीं हैं, फिर भी अब वे हमारे आचार्य हो चुके हैं। वे कच्छ से विहार करते हुए इधर आ रहे हैं।'

सप्तम आचार्य के नाम की उद्घोषणा के साथ ही सारे संघ में हर्ष का वातावरण छा गया। जयध्वनि के साथ सारा वातावरण मुखरित हो उठा, उसी रात को लोगों ने तार द्वारा दूर-दूर के क्षेत्रों तक सूचना पहुंचा दी।

पदारोहण

डालगणी को अपने आचार्य चुने जाने की खबर जोधपुर के पास चोपासणी गांव में जोधपुर के प्रमुख श्रावक लिछमणदासजी भंडारी द्वारा दी गई। वे जोधपुर से नागौर होते हुए लाडनूं पधारे। लाडनूं के ठाकुर साहब नगाड़े-निशान लेकर सामने गए। उनका नगर-प्रवेश बहुत ही शानदार हुआ।

डालगणी का विधिवत् पट्टमहोत्सव मनाने के लिए माघ कृष्णा द्वितीया का दिन निश्चित किया गया। लाडनूं के पंचायती नोहरे में चतुर्विध संघ के बीच उल्लासपूर्ण वातावरण में उन्होंने विधिवत् आचार्यपद का भार संभाला।

आचार्य-काल

डालगणी एक महान् व तेजस्वी आचार्य थे। अग्रणी जीवन में उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप सारे संघ पर डाल दी थी। उन जैसे प्रखर व्याख्याता और मनस्वी आचार्य को पाकर तेरापंथ संघ धन्य हो गया।

डालगणी को शायद कल्पना तक नहीं होगी की इस प्रकार मैं आचार्य के लिए चुना जाऊंगा। उनको स्वयं के चुने जाने का बहुत आश्चर्य था। उन्होंने मुनि मगनलालजी से सारी स्थिति को जाना। फिर एक दिन बात ही बात में कहने लगे – 'मेरी राय लिए बिना तुम सबने मुझे कैसे चुन लिया ? यदि मैं इनकार कर देता तो?' मुनि मगनलालजी ने उस बात को टालते हुए कहा – 'इसमें आपकी राय लेने की क्या आवश्यकता थी?' संघ को आचार्य चाहिए था और उसने आपको सर्व-सम्मति से चुन लिया। सारे संघ के चुनाव को आप इनकार भी कैसे कर सकते थे?'

डालगणी ने फिर दबाव डालते हुए कहा – 'मान लो मैं अपने को इतना योग्य नहीं समझकर इनकार कर ही देता तो तुम लोगों ने विकल्प में किसी दूसरे का नाम तो सोचा होगा?'

आखिर मुनि श्री उनसे बात छुपा नहीं सके। सारी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा – 'हमने कालूरामजी (छापर वाले) का नाम सोच रखा था।'

डालगणी ने कहा – 'मैंने भी बहुत नाम सोचे थे पर यहां तक मेरी कल्पना नहीं गई। लगता है, डालगणी ने उसी दिन अपने उत्तराधिकारी का नाम निश्चित कर लिया हो।'

हमारी मान्यता सत्य हुई तो

मेवाड़ में विहार करते हुए डालगणी ने विक्रम सं. १९५६ का मर्यादा महोत्सव उदयपुर में किया। वहां बच्छराजजी सिंघी ने एक बार दर्शन किए। सिंघीजी जोधपुर के राजमुसद्दी थे, परन्तु जोधपुर-नरेश की नाराजगी के कारण उदयपुर में रहा करते थे। उदयपुर दरबार उन्हें घर बैठे एक हजार रुपये मासिक दिया करते थे। यद्यपि वे वैष्णव धर्म को मानने वाले थे, पर साथ ही साथ कुछ लोगों द्वारा तेरापंथ के विषय में भ्रान्त कर दिए गए थे, अतः कभी-कभी तेरापंथ

की निन्दा करने में भी रस लिया करते थे। जब वे डालगणी के पास आए तो उन्हें साधुओं का आचार-विचार बतलाया गया। साथ ही तेरापंथ के मन्तव्यों तथा मर्यादाओं से भी अवगत कराया गया। डालगणी के उस प्रथम सत्संग से वे इतने प्रभावित हुए कि उसके पश्चात् जब कभी अवसर मिलता वे आ जाया करते थे। कुछ दिनों में वे डालगणी के पक्के भक्त हो गए।

डालगणी उदयपुर से विहार कर भुवाना पधारे। कुछ समय पूर्व उन्हें ज्वर आ चुका था। उसकी कमजोरी पूर्णतः ठीक नहीं हो पाई थी, अतः उस विहार से उनकी आकृति पर कुछ थकान की झलक आ गई। उसी समय सिंघीजी भी दर्शन करने के लिए उदयपुर से वहां पहुंच गए। वे बड़े विनोदी प्रकृति के थे। आचार्य देव के शरीर की कमजोरी को लक्ष्य करके कहने लगे – 'अभी तक आपके पिछले ज्वर की कमजोरी तो पूर्णरूप से मिट नहीं पाई है और आपने विहार कर दिया। मुझे तो कभी-कभी आपके नियमों और कष्टाचरणों को देखकर यह चिंता होने लगती है कि खाने-पीने और मौज करने की हमारी मान्यता यदि ठीक निकली तो आपका यह सारा कष्ट सहना निरर्थक हो जाएगा!'

डालगणी ने भी उसी प्रकार से उत्तर देते हुए फरमाया – 'इससे अधिक तो कुछ नहीं होगा न?'

सिंघीजी ने कहा – 'और तो फिर क्या होगा?'

डालगणी ने फिर एक प्रश्न करते हुए फरमाया – 'और यदि हमारी मान्यता सत्य निकली तो ?'

सिंघीजी ने हंसते हुए कहा – 'तब तो हम लोगों पर इतने जूते पड़ेंगे कि धरती भी नहीं झेल सकेगी।'

दस मन का हलुवा

एक बार मेवाड़ क्षेत्र में विहार करने के बाद थली की ओर पधारते हुए डालगणी ब्यावर भी पधारे। वहां अन्य सम्प्रदाय के कुछ व्यक्ति बातचीत करने के निमित्त उनके पास आए। बातचीत के बीच में ही एक व्यक्ति क्रुद्ध होकर बोल उठा – 'तुम लोगों से क्या बात की जाए। तुमने तो अभी-अभी मार्ग के एक गांव में दस मन का हलुवा बनवा कर ले लिया?'

डालगणी ने आश्चर्यान्वित होकर उस बात को दुहरा कर पूछा – 'क्या कहा, दस मन का हलुवा?'

वह व्यक्ति और भी अधिक जोर देते हुए बोला – 'हां-हां, दस मन का हलुवा।'

डालगणी ने तब अपने स्वर को धीमा करते हुए पूछा – 'आटे का या मैदे का?'

उसने कहा – 'आटे का।'

डालगणी ने तब उपस्थित लोगों से पूछा – 'क्यों भाई ! दस मन आटे में चीनी, घी और पानी डालने पर कितना हलुवा बनता है?' उनमें से एक ने कहा – 'एक मन आटे का आठ मन हलुवा होता है।'

डालगणी ने हिसाब बतलाते हुए कहा – 'दस मन आटे का अस्सी मन हलुवा हुआ। अब जरा सोचो तो सही कि अस्सी मन हलुवा हम कैसे लाए होंगे और कैसे उसे खाया होगा ? राजनगर से विहार करने के पश्चात् बाईस साधु और सात साध्वियां, इस प्रकार उनतीस ठाणे हमारे साथ रहे हैं। तीसवां ठाणा उस दिन से आज तक हुआ ही नहीं, अतः तुम्हारे हिसाब से हम में से प्रत्येक व्यक्ति ने उस दिन ढाई मन से अधिक हलुवा खाया, परन्तु क्या यह बात संभव लगती है?'

सबके सामने अपनी बात को नीचे गिरते देखकर उस व्यक्ति ने संभलते हुए कहा – ''मैंने तो जैसा सुना है वैसा कहा है, लिया या नहीं लिया, तुम जानो।''

डालगणी ने फरमाया – ''इतनी बुद्धि तो एक गंवार में भी मिल सकती है कि किसी गप्प पर विश्वास न करे और मुंह से बात निकालने से पहले उसकी सत्यता और असत्यता को तौल ले।''

इस प्रकार उनका जीवन घटना-प्रधान था। उनके जीवन की अनेक घटनाएं तेरापंथ इतिहास से जानी जा सकती हैं। तेरापंथ के आचार्य पद को उन्होंने अपने व्यक्तित्व से अत्यंत गौरवशाली बनाया था। उनका स्वर्गवास वि. सं. १९६६, भाद्र शुक्ला द्वादशी लाडनूं में हुअ।

डालगणी के शासन-काल में एक सौ इकसठ दीक्षाएं हुईं। उनमें छत्तीस साधु और एक सौ पचीस साध्वियां थीं। जब वे दिवंगत हुए उस समय अड़सठ साधु और दो सौ इकत्तीस साध्वियां संघ में विद्यमान थीं।

प्रश्न :

१. डालगणी की दीक्षा कहां हुई थी ?

२. डालगणी के आचार्य-चुनाव की घटना के बारे में संक्षिप्त प्रकाश डालो।

३. डालगणी के आचार्य-काल का एक संस्मरण बताओ।

४. डालगणी की माता का नाम क्या था ?

१३

महासती सरदारांजी

तेरापंथ के दो गौरवशाली शतक पूरे हो चुके हैं। इस अवधि में लगभग १६०० बहिनों ने दीक्षा ली और आत्मसाधना के साथ-साथ उन्होंने जनहित में भी पूर्ण योग दिया। तेरापंथ का इतिहास उनके कर्तृत्व की घटनाओं से भरा पड़ा है। उनके विकास का एकमात्र सूत्र था, गुरु-चरणों में समर्पण की भावना।

तेरापंथ धर्मशासन एक आचार्य, एक समाचारी, एक विचार और एक संगठन के लिए प्रसिद्ध है। शासन का समस्त कार्यभार आचार्य के कंधों पर रहता है। वे संघ के सर्वांगीण संवाहक होते हैं। साधुओं का उनसे निकट का संपर्क रहता है, परन्तु साध्वियों से इतना निकट संपर्क नहीं रहता, अतः आचार्य अपनी इच्छानुकूल साध्वी-समाज में से एक योग्य साध्वी को साध्वी-समाज की 'प्रमुखा' के रूप में स्थापित करते हैं।

यह परम्परा श्रीमज्जयाचार्य ने वि. सं. १९१० में स्थापित की । उसके पूर्व साध्वीप्रमुखा-पद नहीं था। आचार्य भिक्षु के समय साध्वीश्री हीरांजी तथा आचार्य रायचंदजी के समय साध्वीश्री दीपांजी मुखिया थीं। श्रीमज्जयाचार्य ने सर्वप्रथम साध्वीश्री सरदारांजी को साध्वीप्रमुखा पद से विभूषित किया। तब से आज तक आठ साध्वी-प्रमुखाएं हुई हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

१. साध्वीप्रमुखा श्रीसरदारांजी

२. साध्वीप्रमुखा श्रीगुलाबांजी

३. साध्वीप्रमुखा श्रीनवलांजी

४. साध्वीप्रमुखा श्रीजेठांजी

५. साध्वीप्रमुखा श्रीकानकुमारीजी

६. साध्वीप्रमुखा श्रीझमकूजी

७. साध्वीप्रमुखा श्रीलाडांजी

८. साध्वीप्रमुखा श्रीकनकप्रभाजी (वर्तमान में)

जन्म और विवाह

संकल्प में बल होता है और आशा में जीवन । उसी का जीवन फलवान् होता है जिसके संकल्प में आत्मविश्वास का घोष हो। महासती सरदारांजी का जीवन संकल्प और आशा की रेखाओं का स्पष्ट चित्र है। आपका जन्म वि. सं. १८५६ में राजस्थान के प्रसिद्ध चूरू शहर के कोठारी परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम जैतरूपजी व माता का नाम चंदना था। दस वर्ष की बाल्यावस्था में ही आपका विवाह सुलतानमलजी ढड्ढा के सुपुत्र जोरावरमलजी के साथ जोधपुर जिले के फलोदी ग्राम में कर दिया गया। विवाह के पांच मास बाद ही उल्कापात हुआ। सरदारसती के पति चल बसे। सुकुमार हृदय पर वज्राघात हुआ, परन्तु पति का वियोग सरदारांजी के भावी जीवन का शुभ संयोग बन गया। उनकी भावना उत्तरोत्तर अध्यात्मोन्मुखी होती चली गई।

प्रथम संपर्क और तपस्या

वि. सं. १८८७ में तेरापंथ के तृतीय आचार्य श्रीमद् रायचंदजी का चूरू में पदार्पण हुआ। आप उनके संपर्क में आयीं। प्रतिदिन व्याख्यान सुनतीं और यदा-कदा पौषध भी करतीं। वि. सं. १८८७ में मुनि जीतमलजी ने अपना चातुर्मास चूरू में किया । सरदारांजी ने उस चातुर्मास में अपनी जिज्ञासाओं का समुचित समाधान पाया एवं तत्त्वों की वास्तविकता को समझकर तेरापंथ की श्रद्धा स्वीकार की ।

आपने तेरह-चौदह वर्ष की आयु में यावज्जीवन चौविहार (रात्रि में पानी भी न पीना) और प्रत्येक चतुर्दशी को उपवास करने का व्रत ले लिया था। सचित्त पानी न पीना, खुले मुंह न बोलना, सचित्त वस्तु न खाना आदि-आदि प्रतिज्ञाएं आपके उत्कृष्ट वैराग्य की सूचक हैं। दीक्षा का संकल्प दृढ़ होता जा रहा था। आपने साधना-पथ को परखना चाहा। तपस्याएं प्रारंभ कीं। कई महीनों तक 'एकान्तर तप' (एक दिन के अन्तर से भोजन लेना) किया। अस्सी बेले (दो दिन का उपवास) किए। पारणे के दिन आचाम्ल (आयम्बिल) की तपस्या की। एक वर्ष तक बेले-बेले का चौविहार तप तपा। प्रतिमास एक चोला तथा एक पंचोला चौविहार करने का संकल्प किया। एक बार दस दिन का चौविहार करने का संकल्प किया। जीवन का अधिक समय त्याग तपस्या में बीतने लगा। कुछ वर्षों तक ग्रीष्म ऋतु के समय धूप में बैठकर चार सामायिक करतीं एवं

शीतकाल में रात्रि में एक ओढ़नी में तीन सामायिक करतीं। विचारों की प्रौढ़ता से आचार के प्रति निष्ठा बढ़ी। दीक्षा-ग्रहण की भावना उत्कट हुई। उन्होंने यह बात अपने परिवार वालों से कही। परिवार वालों ने दीक्षा की आज्ञा देने से मनाही कर दी। सरदारांजी अपने विचारों पर दृढ़ रहीं। अनेक बाधाएं आयीं। शारीरिक कष्ट दिए गए, किन्तु वे अपने विचारों से विचलित नहीं हुई।

कठिन परीक्षा

विधिवत् साध्वी बनना आज्ञा के बिना असंभव था, परन्तु आपने गृहस्थ वेश में ही साधु-जीवन के नियमों की साधना प्रारम्भ कर दी। एक दिन आपने अपने 'जेठ' बहादुरसिंहजी से कहा – 'आज से मैं प्रतिज्ञा करती हूं कि जब तक आप मुझे दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा नहीं देंगे, तब तक मैं आपके घर का अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी।' समस्या उलझती गयी। जेठ ने घर से बाहर जाने की रोक लगा दी, यह सोचकर कि वे अपना निश्चय अपने-आप बदल देंगी।

सरदारांजी ने छः दिन तक अन्न-जल कुछ भी नहीं लिया। 'जेठ' का कठोर हृदय पिघला। उन्होंने कहा – 'दासी से भिक्षा मंगवाकर काम चलाओ, तुम्हारी प्रतिज्ञा भी भंग नहीं होगी और हमें भी दुःख नहीं होगा।' कई दिनों तक यह क्रम चला, परन्तु सरदारांजी को यह नहीं जंचा। एक दिन आप स्वयं भिक्षा के लिए बाहर गयीं। बहादुरसिंहजी को मालूम होने पर उन्होंने द्वारपाल से कहा – 'देखो, ध्यान रखना, कल सरदारांजी बाहर जाए तो उसे रोक देना।'

दूसरे दिन सरदारांजी भिक्षा के लिए बाहर जाने लगीं। द्वारपाल ने रोका। उन्होंने बाहर जाने के अनेक प्रयत्न किए जिससे बहादुरसिंहजी का रोष बढ़ा उन्होंने नौकरानी से कहा – 'इसे कमरे में बन्द कर ताला लगा दो।' वैसा ही हुआ। सरदारांजी एक कमरे में बन्द थीं। भावनाओं का वेग बढ़ा। आपने संदूक से सफेद वस्त्र निकाले और साध्वी का वेश बना लिया। हाथों से केश-लुंचन करने लगी। बच्चों ने छिद्रों से यह देख अपने पिता बहादुरसिंहजी से कहा – 'पिताजी ! कमरे में चाचीजी नहीं है, एक साध्वी बैठी है। वह लुंचन कर रही है।' बहादुरसिंहजी ने कमरा खोला और अपनी पत्नी से कहा -'इसका यह वेष उतार लो। लुंचन मत करने दो, हाथ पकड़ लो।' ज्योंही जेठानी आगे बढ़ी, सरदारांजी ने कहा – 'खबरदार! अगर हाथ लगाया तो परिणाम अच्छा नहीं होगा।' सब सकपका गए। बहादुरसिंहजी ने मीठे शब्दों में कहा – 'बहुत अच्छा, तुम साध्वी बनकर

हमारे घर में बैठी रहो । अब हम घर बैठे ही दर्शन करते रहेंगे ।' साधना पूर्ववत् चलती रही। एक दिन जेठानी ने कहा – 'मैं तुम्हारी साधना देखकर विस्मित हूं। मैंने तो आज भी तुम्हारे जेठ को इस विषय में समझाया, पर वे कहते हैं कि तपस्या करते-करते मृत्यु हो जाएगी तो घर बैठे आंसू बहा लूंगा, पर दीक्षा की स्वीकृति नहीं दूंगा।' यह सुनते ही उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आज्ञा-पत्र नहीं मिलेगा, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी।

दीक्षा की स्वीकृति

दस दिन बीत गए। कठोर साधना से शरीर शुष्क लकड़ी-सा हो गया। गर्मी बढ़ने से खून निकलने लगा, पर जेठ का मन नहीं पिघला। जेठानी तथा अस्सी वर्षीया दादीसासू भी सरदारांजी के पक्ष में हो गयीं। दोनों ने संकल्प किया कि जब तक सरदारांजी अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगी, हम भी अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगी, जेठ का कठोर हृदय दादी मां के स्नेह से द्रवित हो गया। विवश होकर उन्हें स्वीकृति-पत्र लिख देना पड़ा। वह पत्र अपने सिपाही को देकर सरदारांजी को उनके पीहर भेज दिया।

चूरू पहुंचने पर पिता ने वह पत्र अपने पास रख लिया। सरदारांजी को देने में आना कानी की। कई दिन बिता दिए। सरदारांजी ने पत्र न मिलने तक पुनः चारों आहार का त्याग कर दिया। पांच दिन निकल गए, घर वाले भी थक गए। आखिर वह पत्र उन्हें सौंप दिया। पत्र मिलने के बाद सरदारांजी युवाचार्य जीतमलजी के दर्शनार्थ उदयपुर रवाना हो गई। मार्ग में अनेक जगह साधु-साध्वियों के दर्शन व सेवा का लाभ लेती हुई उदयपुर पहुंची। वहां युवाचार्य को सारी स्थिति निवेदित की और दीक्षा देने की प्रार्थना की। युवाचार्यश्री ने वि. सं. १८९७, मिगसर कृष्णा ४ को उदयपुर में बत्तीस वर्ष की अवस्था में सरदारांजी को दीक्षा प्रदान की।

दीक्षा के बाद

दीक्षा के बाद जब प्रथम बार आपने तृतीय आचार्यश्री रायचंदजी के दर्शन किए तब आचार्यश्री ने आपको औपचारिक रूप से 'अग्रगण्या' बना दिया। तीन वर्ष बाद निशीथ आदि सूत्रों का वाचन कर लेने पर आपने 'अग्रगण्या' के भार को विधिवत् संभाला। दीक्षा के १३ वर्ष बाद आपको 'साध्वीप्रमुखा' का पद मिला। जयाचार्य को आपकी योग्यता व विवेक पर पूर्ण विश्वास था। प्रखर बुद्धि के कारण आप एक दिन में २०० पदों को कंठस्थ कर लेतीं। आपको सहस्रों पद कंठस्थ थे।

कुशल व्यवस्थापिका

हृदय का अनुशासन स्थायी होता है। सरदारसती का अनुशासन अपनी विशेषताओं को लिए हुए था। संपूर्ण साधु-साध्वी-समाज का विश्वास आपको प्राप्त था। आचार्यों का आपके काम के प्रति असंदिग्ध भाव था। साध्वी-समाज की एक और समस्या थी। साध्वियों के संघाटक सम-संख्यात्मक नहीं थे। किसी संघाटक में ९ साध्वियां रहतीं तो किसी संघाटक में केवल तीन ही। लाडनूं में एक दिन श्रीमज्जयाचार्य ने सरदारसती से कहा–'साध्वियों की योग्यता अनुसार कई 'संघाटक' (सिंघाड़े) तैयार करो और उनके संख्यात्मक विषमता को मिटा दो ।' आदेश पा आपने एक रात में १२१ साध्वियों के २३ नए संघाटक तैयार कर जयाचार्य को निवेदित कर दिया। जयाचार्य आपकी कार्य-तत्परता व कुशलता पर बहुत प्रसन्न हुए। यह व्यवस्था इतनी सहज (सरल) नहीं थी जितनी प्रतीत होती है, परन्तु यह सरदारसती के व्यक्तित्व का ही परिणाम था कि सब कुछ आसानी से हो गया।

समविभाग की व्यवस्था

आहार के समविभाग की परम्परा का श्रेय की सरदारसती को ही है। उस समय साधु-साध्वियों की समस्त भिक्षा आचार्य के समक्ष एकत्र की जाती और उसमें से साधु जितना चाहते उतना रख लेते, शेष साध्वियों को दे देते। सरदारसती को यह बात अखरी उन्होंने श्रीमज्जयाचार्य से उचित परिवर्तन की प्रार्थना की। तदनुसार समविभाग की व्यवस्था चालू हो गयी।

साध्वी-जीवन में आपने विविध तपस्याएं कीं। अनेक साध्वियों को तपस्या करने के लिए प्रोत्साहित किया। अंत में वि. सं. १९२७ की पौष कृष्णा अष्टमी को आजीवन अनशन (पांच प्रहर के अनशन) में बीदासर में आपका स्वर्गवास हो गया। विवेक और बुद्धि की धनी, गुरु के इंगित आकार को समझने में अत्यंत निपुण महासती सरदारांजी के प्रति तेरापंथ शासन सदा चिरऋणी रहेगा।

प्रश्न :

१. तेरापंथ की वर्तमान साध्वीप्रमुखा का नाम बताओ।
२. महासती सरदारांजी का जब विवाह हुआ उस समय उनकी उम्र क्या थी?
३. उनकी कठिन परीक्षा का वर्णन करो।
४. साध्वी सरदारांजी ने जयाचार्य से किस सुधार के लिए प्रार्थना की थी ?

१४

आचार्य भिक्षु के प्रेरक प्रसंग

१. रूढ़िवादी के विरोधी

भीखणजी विवाह के बाद ससुराल गए। भोजन का समय हुआ। वे भोजन करने बैठे। जवांई (दामाद) जब ससुर के घर खाना खाता है तब स्त्रियां उसे गालियों के गीत सुनाती हैं। यह मारवाड़ की चिर-प्रचलित प्रथा है। जवांई के स्वागत में गीत-गान गाने के लिए परिवार और पड़ोस की स्त्रियां एकत्रित हुई। जवांई के गीत गाते हुए कुल-वधुओं ने विनोद में गाया ''ओ कुण कालो जी काबरो।'' भीखणजी का साला लंगड़ा था। उन्होंने व्यंग्य की भाषा में कहा–'जहां अन्धे और लंगड़ों को अच्छा और अच्छों को अन्धा और लंगड़ा बताया जाता है, वहां कैसे भोजन किया जाये? क्या यह उचित है? मैं काला हूं तो क्या, लंगड़ा तो नहीं हूं।'' और थाली छोड़कर भीखणजी बिना खाए उठ खड़े हुए।

रूढ़िवाद उनकी प्रकृति के विरुद्ध था, वह उन्हें अपने बाहुपास में जकड़ नहीं सका।

२. अन्ध विश्वास का मर्मोद्‌घाटन

दूसरे प्रांतों में 'मारवाड़ी' का अर्थ है–राजस्थानी। किंतु, राजस्थान में 'मारवाड़ी' का अर्थ जोधपुर राज्य का वासी है। इस राज्य के एक प्रदेश का नाम कांठा है। वहां एक छोटा-सा कस्बा है–कंटालिया। एक दिन वहां किसी के घर चोरी हो गई। चोर का पता नहीं चल रहा था। तब बोर नदी से एक कुम्हार को बुलाया गया। वह अंधा था। फिर भी चोरी का भेद जानने के लिए लोग उसे बुलवाया करते थे। क्योंकि उसके मुंह से देवता बोलता है, इस रूप में उसने प्रसिद्धि पा रखी थी। कुम्हार आया। भीखणजी से मिला ओर टोह लेने के लिए उनसे पूछा–'चोरी का सन्देह किस पर है?' भीखणजी उसकी ठग-विद्या को जानते थे। आज वे उसकी इस चालाकी की अन्त्येष्टि करना चाहते थे। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्होंने कहा–'भाई ! संदेह तो 'मजने' पर है।' रात गई और कुम्हार अखाड़े में आया। लोग इकट्ठे हो गए। उसने देवता को अपने शरीर में बुलाया। शरीर कांप उठा। 'डालदे-डालदे रे'–कहकर वह चिल्लाया। उसकी चिल्ल-पों से वातावरण

में एक प्रतीक्षा का भाव भर गया, पर चोरी का धन लौटाने कोई नहीं आया। तब 'नाम प्रकट करने' की आवाजें आने लगीं। कुम्हार का देवता बोल उठा– ''गहना 'मजने' ने चुराया है, 'मजने' ने चुराया है, 'मजने' ने चुराया है।'' वहां एक फकीर बैठा था। उसने अपने डंडे को घुमाते हुए कहा– ''मजना मेरे बकरे का नाम है, उस पर झूठा आरोप लगाता है ? दुबारा उसका नाम लिया तो फिर लोग कुछ ओर ही देखेंगे।' उसकी ठग-विद्या की कलई खुल गई। लोग उसे कोसने लगे। भीखणजी ने कहा–''इसे कोसने की क्या जरूरत है ? मूर्ख तो तुम हो। चोरी आंख-वालों के घर हुई है और उसका पता लगाने अन्धे को बुलाते हो, गहना कैसे आएगा ?''

३. घास के बदले दूध

काफरला गांव में साधु भिक्षा लेने गए। एक जाटनी के घर आटे का धोवन पड़ा था। साधुओं के मांगने पर भी उसने नहीं दिया। साधु खाली पात्र लिए लौट आए। उन्होंने आचार्य भिक्षु से कहा–जल बहुत है, पर मिल नहीं रहा है।

आचार्य भिक्षु–क्यों ? क्या वह बहिन देना नहीं चाहती ?

साधु–वह जो देना चाहती है, वह अपने लिए ग्राह्य नहीं है और ग्राह्य है, वह देना नहीं चाहती।

भिक्षु–उसे धोवन देने में क्या आपत्ति है ?

साधु–वह कहती है–आदमी जैसा देता है, वैसा पाता है। आटे का धोवन दूं तो मुझे वही मिलेगा, मैं परभव में उसे पी नहीं सकती। यह साफ पानी है, आप ले लीजिए।

आचार्य भिक्षु उठे और साधुओं को साथ लेकर उस घर में गए। धोवन की मांग करने पर उस बहिन ने वहीं उत्तर दिया जो पहले ही दे चुकी थी।

भिक्षु–बहिन तेरे घर में गाय है?

बहिन–हां महाराज, है।

भिक्षु–तू उसे क्या खिलाती है?

बहिन–चारा, घास।

भिक्षु–वह क्या देती है?

बहिन–दूध।

भिक्षु–तब बहिन। जैसा देता है, वैसा कहां मिलता है? घास के बदले दूध मिलता है न?

अब वह रुक नहीं सकी। धोवन-जल का पात्र उठाकर सारा जल उसने साधुओं के पात्र में उंडेल दिया।

४. तुम्हारा मुंह देखने वाला नरक में जाता है

भीखणजी स्वामी देसूरी जा रहे थे। रास्ते में घाणेराव के कई व्यक्ति मिले। उन्होंने पूछा–''तुम कौन हो?'' ''मैं भीखण हूं।''–आचार्य भिक्षु ने कहा। ''ओह! अनर्थ हो गया''–उन्होंने कहा। आचार्य भिक्षु ने पूछा–''कैसे क्यों ?'' वे बोले– ''तुम्हारा मुंह देखने वाला तो नरक में जाता है।'' आचार्य भिक्षु ने कहा–''और तुम्हारा मुंह देखने वाला तो स्वर्ग में जाता होगा न?'' उन्होंने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा–''तब ठीक, मेरे लिए तो अच्छा ही हुआ। मुझे तो स्वर्ग ही मिलेगा, क्योंकि मैंने तुम्हारा मुंह देखा है।'' तुम तुम्हारी जानो।

५. इतने जनप्रिय क्यों ?

आचार्य भिक्षु से एक व्यक्ति ने पूछा–महाराज ! आप इतने जनप्रिय क्यों हैं? आपने कहा–एक पतिव्रता स्त्री थी। उसका पति विदेश में था। बहुत दिनों से उसे पति का कोई समाचार नहीं मिला। एक दिन अकस्मात् एक समाचारवाहक आया। उसने उसके पति का सन्देश दिया। सुनकर उसे अपार हर्ष हुआ। उसके लिए वह आकर्षण का केन्द्र बन गया। हम भगवान् के संदेशवाहक हैं। लोग भगवान् के भक्त हैं, भगवान् का सन्देश सुनने के लिए आतुर रहते हैं। हम गांव-गांव में जाते हैं और लोगों को भगवान् का सन्देश सुनाते हैं। हमारे प्रति जनता के आकर्षण का यही कारण है।

६. एक मुक्का

उदयपुर में एक व्यक्ति आया और कहने लगा–''मुझसे तत्त्व-चर्चा का कोई प्रश्न पूछो।'' आचार्य भिक्षु ने नहीं पूछा। बार-बार अनुरोध किया तब पूछा–''तुम समनस्क हो या अमनस्क?'' उसने कहा–''समनस्क।'' आचार्यश्री ने पूछा– कैसे? उसने कहा–नहीं-नहीं, मैं तो अमनस्क हूं। फिर आचार्यश्री ने पूछा–किस न्याय से? बोला–नहीं-नहीं, मैं दोनों ही नहीं हूं। आपने कहा - किस प्रकार ? न्याय बताओ। वह बोला–नहीं, मैं दोनों ही हूं। फिर पूछा–वह किस न्याय से? वह इस 'न्याय-न्याय' से क्रुद्ध होकर आचार्यश्री की छाती में मुक्का मारकर चलता बना।

७. बल प्रयोग

एकेन्द्रिय को मारकर पंचेन्द्रिय का पोषण करने में लाभ है, किसी ने कहा। आचार्य भिक्षु बोले–''किसी व्यक्ति ने तुम्हारा तौलिया छीनकर एक सर्दी से

ठिठुरते दूसरे व्यक्ति को दे दिया। कुछ व्यक्तियों ने गेहूं के कोठों को लूट लिया और गरीबों में बांट दिया। इनमें लाभ है या नहीं ?'' वह बोला—नहीं। आचार्यश्री—क्यों ?

वह बोला—स्वामी की इच्छा के बिना बलात् दिया गया, इसलिए।

आचार्यश्री बोले—एकेन्द्रिय ने कब कहा कि हमारे प्राण लूटकर दूसरों का पोषण करो ? वह बलात्कार है, एकेन्द्रिय के प्राणों की चोरी है। इसलिए एकेन्द्रिय जीवों को मारकर पंचेन्द्रिय का पोषण करने में धर्म नहीं है।

प्रश्न :

१. आप इतने जनप्रिय क्यों ? इस घटना को संक्षेप में लिखो।

२. एकेन्द्रिय जीवों से पंचेन्द्रिय जीवों का पोषण करने में धर्म क्यों नहीं है ?

३. 'मजने' वाली घटना संक्षेप में लिखो।

१५

चार गतियां

हम जानते हैं, आत्मा अमर है। अमुक मर गया है, अमुक जन्मा है, यह भी जानते हैं। अमर पदार्थ की मृत्यु नहीं होती और मृत्यु हुए बिना कोई पैदा नहीं होता, तो फिर अमर आत्मा का मरण एवं जन्म कैसे होता है ?

जन्म-मरण का मुख्य कारण है आत्मा का कर्म सहित होना। जब तक आत्मा कर्म-पुद्‌गलों के साथ बंधी रहेगी तब-तक आत्म-मरण से मुक्त नहीं हो सकती, परन्तु जन्म और मरण से आत्मा का अस्तित्व नहीं मिटता। ये तो आत्मा की अवस्थाएं हैं जो आत्मा को एक जन्म-स्थिति से दूसरी जन्म-स्थिति में पहुंचाने वाली हैं। संसारी जीवों के जन्म-स्थान प्रमुख रूप से चार हैं, जिन्हें 'चार गति' कहते हैं—१. नरक गति, २. तिर्यंच गति, ३. मनुष्य गति और ४. देव गति।

गति शब्द का अर्थ है—चलना, एक स्थान से दूसरे स्थान जाना, परन्तु यहां पर गति शब्द का प्रयोग एक जन्म-स्थिति से दूसरी जन्म-स्थिति को या एक अवस्था से दूसरी अवस्था को पाने के अर्थ में हुआ है। जैसे—मनुष्य-अवस्था में जीव मनुष्य-गति कहलाता है और वही जीव तिर्यञ्च-अवस्था को प्राप्त हो गया तो हम उसे तिर्यञ्च-गति कहेंगे।

हमारे इस मनुष्य-लोक के नीचे सात पृथ्वियां हैं, जो नरक कहलाती हैं। उनमें उत्पन्न होने वाले जीवों को नरक-गति कहते हैं। देव-अवस्था को देव-गति एवं मनुष्य-अवस्था को मनुष्य-गति कहते हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर दो, तीन, चार और पांच, इस प्रकार सभी इंन्द्रियों वाले जीव जिस गति में जन्म-धारण करते हैं, वह तिर्यञ्च-गति है। मनुष्य और तिर्यञ्च-गति हमारे आंखों के सामने हैं। नरक और देवगतियां यद्यपि हमारे सामने नहीं हैं तो भी हम उनके अस्तित्व से इनकार नहीं कर सकते। आत्मा है, पुण्य-पाप हैं, तब फिर नरक एवं देवता क्यों नहीं माने जा सकते? संसार के सब जीव अपने कर्मानुसार इनमें परिभ्रमण करते हैं।

१. नरक-गति—नरक सात हैं—रत्न प्रभा, शर्करा प्रभा, बालुका प्रभा, पम प्रभा, धूम प्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा। ये सात पृथ्वियां नीचे लोक में हैं। इनमें जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे नैरयिक कहलाते हैं।

२. तिर्यञ्च-गति–एक, दो, तीन, चार इन्द्रिय वाले जीव तथा पांच इन्द्रिय वाले–जलचर (जल में रहनेवाले जीव), स्थलचर (भूमि पर चलनेवाले जीव) और नभचर (आकाश में उड़ने वाले जीव)। सभी जीव तिर्यञ्च कहलाते हैं।

३. मनुष्य-गति–मनुष्य की अवस्था को प्राप्त करना मनुष्य-गति है। मनुष्य दो तरह के होते हैं–संज्ञी और असंज्ञी। जिन मनुष्यों के मन होता है, वे संज्ञी कहलाते हैं और जिनके मन नहीं होता, वे असंज्ञी कहलाते हैं। संज्ञी मनुष्य गर्भ से उत्पन्न होते हैं और असंज्ञी मनुष्य मनुष्य-जाति के मलमूत्र-श्लेष्म आदि चौदह स्थानों से पैदा होते हैं। वे बहुत सूक्ष्म होते हैं, इसलिए हमें दिखलाई नहीं देते।

४. देव-गति–जो जीव देवयोनि में पैदा होते हैं, देव-गतिक हैं। देवता चार तरह के होते हैं–भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

१. भवनपति देवता दस प्रकार के होते हैं–असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, विद्युत्कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वातकुमार और स्तनितकुमार।

२. व्यंतर की आठ जातियां हैं–पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व।

३. ज्योतिष्क पांच प्रकार के हैं–चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा।

४. वैमानिक देवता दो तरह के है–कल्पोपन्न ओर कल्पातीत। कल्पोपन्न बारह हैं। सौधर्म, ईशान, सनतकुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, शुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत–ये बारह देवलोक हैं। इनमें जो देवता पैदा होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। इनमें स्वामी-सेवक आदि का कल्प विभाग होता है, इसलिए इनको कल्पोपपन्न कहते हैं।

इनसे ऊपर के नवग्रैवेयक और पांच अनुत्तर-विमान में उत्पन्न होने वाले देव कल्पातीत होते हैं, उनमें स्वामी-सेवक आदि का कोई भी व्यवहार नहीं होता। वे अहमिन्द्र (स्वयं इंद्र) कहलाते हैं। ये सब ऊंचे लोक में होते हैं।

प्रश्न :

१. आत्मा के अमर होने पर भी उसका जन्म व मरण क्यों होता है ?

२. तिर्यंञ्च-गति में कौन-कौन से प्राणी होते हैं ?

३. कौन-से देवता कल्पोपपन्न व कल्पातीत होते हैं और क्यों ?

४. 'गति' का अर्थ समझाइए।

१६

दो राशि

जब हम संसार की वस्तुओं को पृथक्-पृथक् करने लगते हैं, तब उनको हजारों श्रेणियों में पहुंचा देते हैं, जैसे–मनुष्य, गाय, भैंस, ऊंट, मकान, कोट बर्तन आदि-आदि। और जब वापस मुड़ते हैं–एकीकरण की ओर दृष्टि डालते हैं, तब हमें मूल रूप में दो ही पदार्थ-राशियां मिलती हैं–एक चेतन–ज्ञानवान् आत्माओं की राशि (समूह) और दूसरी अचेतन–ज्ञानरहित समूह जड़ पदार्थों की राशि। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि जगत् में इन दो राशियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अथवा यों कहा जा सकता है कि जगत् का अस्तित्व इन दोनों के अस्तित्व पर निर्भर है। षड्द्रव्य और नवतत्त्व इनसे पृथक् नहीं हैं।

जब हम विश्व की स्थिति को समझने के लिए आगे बढ़ते हैं, तब इनकी संख्या दो से छह की हो जाती है। संक्षेप दृष्टि से यह लोक जीव-अजीव इन दो तत्त्वों से बना है। जब हम विस्तार की दृष्टि देखते हैं तब अजीव के पांच भेद और हो जाते हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल। इसलिए जीव सहित लोक को षड्द्रव्यात्मक कहा गया है।

आत्मा की मुक्ति कैसे हो सकती है ? जीव या अजीव की कौन-कौन-सी दशाएं मुक्ति की बाधक एवं साधक हैं–इस जिज्ञासा ने जीव-अजीव इन दो तत्त्वों को नौ तत्त्वों में विस्तृत कर दिया। वहां अजीव के चार–अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध और जीव के पांच–जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष–इस प्रकार नौ विभाग हो जाते हैं।

परन्तु वास्तव में तत्त्व दो ही हैं। ये छह और नौ भेद तो एक विशेष उपयोगिता या समझने की सुविधा के लिए किए गए हैं। हम इन दोनों के विभिन्न वर्गों को जाने बिना यह नहीं जान सकते कि विश्व के कार्य-संचालन में जीव और अजीव का क्या-क्या उपयोग है ?

धर्मास्तिकाय विश्व की गतिशीलता–सक्रियता का सहायक तत्त्व है। दुनिया में जो कुछ हलन-चलन, कम्पन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन होता है, वह सब धर्म-द्रव्य की सहायता से ही होता है। अधर्मास्तिकाय ठीक इसी का प्रतिपक्षी

है। स्थिति-स्थिरता में उसका सहयोग है। दूसरे शब्दों में हम एक को सक्रियता का सहायक एवं दूसरे को निष्क्रियता का सहायक कह सकते हैं।

यद्यपि सक्रियता एवं निष्क्रियता वस्तुओं की निजी शक्ति का परिणाम है, तो भी इनके सहयोग के बिना वे हो नहीं सकतीं। आकाश आश्रय देने वाला द्रव्य है। यह चराचर जगत् उसी के आधार पर टिका हुआ है। काल-समय से संसार का सारा कार्यक्रम विधिवत् संचालित होता है। पुद्गल के बिना देहधारी प्राणी अपना निर्वाह नहीं कर सकते। श्वास-निःश्वास से लेकर खाने, पीने, पहनने आदि सब कार्यों में पौद्गलिक वस्तुएं ही काम में आती हैं। शरीर स्वयं पौद्गलिक है। मन, वचन की प्रवृत्ति भी पुद्गलों की सहायता से होती है। आत्माएं इनका उपयोग करने वाली हैं, चेतनाशील हैं। इन छहों द्रव्यों के कार्यों को एकत्र करने से समूचे विश्व का संस्थान हमारी आंखों के सामने आ जाता है।

लोक-स्थिति की जानकारी में अजीव के अन्तर्गत पदार्थों का जितना सम्बन्ध है, उतना जीव की विभिन्न दशाओं का नहीं। उनकी जानकारी तो आत्मसाधक के लिए आवश्यक है। जीव और अजीव - ये दो तो मूल हैं। पुण्य, पाप और बन्ध ये कर्म-पुद्गल हैं। इनके द्वारा आत्मा बंधती है, भौतिक सुख एवं दुःख मिलता है, अतएव ये तीनों मुक्ति के बाधक हैं। आश्रव कर्म ग्रहण करने वाली आत्मा की अवस्था है इसलिए वह भी बाधक है। संवर से आगामी कर्मों का निरोध होता है, निर्जरा से पहले बंधे हुए कर्म टूटते हैं - आत्मा उज्ज्वल होती है, इसलिए ये दोनों मोक्ष के साधक हैं। मोक्ष आत्मा की कर्मफल-रहित विशुद्ध अवस्था है।

विश्व में मूल राशि दो ही हैं—एक जीव-राशि और दूसरी अजीव-राशि। जीव-राशि में सब जीव और अजीव-राशि में सब अजीव समा जाते हैं। या यों कहना चाहिए कि इनमें समूचा लोक समा जाता है।

प्रश्न :

१. पुद्गल हमारे लिए क्यों अपेक्षित है?

२. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में क्या भेद है?

३. नौ तत्त्वों में जीव और अजीव कौन-कौन-से हैं ? नाम बताइए।

१७

जीव सब समान हैं

हम जगह-जगह यह बतलाते आए हैं कि जीव पांच प्रकार के हैं, छह प्रकार के हैं, चार प्रकार के हैं आदि—ये सब भेद जीवों, इन्द्रिय, शरीर आदि की अपेक्षाओं से किये गये हैं। उनका मूल-स्वरूप एक समान है। कोई भी जीव परिमाण में न तो छोटा होता है और न बड़ा। सब जीवों के ज्ञानमय असंख्य प्रदेश बराबर होते हैं। उन प्रदेशों का स्वभाव सिकुड़ने और विकसने का होता है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश खुले आकाश में ज्यादा फैलता है और एक ढक्कन में रखा जाय तो उसके अन्दर समा जाता है, वैसे ही आत्मा जो ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का अविभाज्य पिण्ड है, वह एक बड़े शरीर में व्याप्त होता है और छोटे-से-छोटे शरीर में भी समा जाता है। बड़ा-छोटा शरीर होना अपने-अपने कर्मों के अनुसार है। इसलिए बड़े जीवों को मारने से अधिक दोष और छोटे जीवों को मारने से कम दोष है, ऐसा कहना निश्चय-दृष्टि के अनुसार अनुचित है।

हिंसा बड़ी और छोटी अपने-अपने विचारों के अनुसार होती है, जीवों के अनुसार नहीं। परिणाम जितने अधिक मलिन होते हैं, हिंसा भी उतनी ही अधिक होती है। बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों को मार डालने में कोई आपत्ति नहीं अथवा बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों को मार डालने में दोष थोड़ा है और लाभ अधिक है, ऐसा सिद्धान्त अहिंसा के सनातन सिद्धान्त के नितान्त प्रतिकूल हैं। भगवान् महावीर ने कहा—

जे केई खुद्दगा पाणा, अहवा संति महालया।
सरिसं तेहिं वेरन्ति, असरिसंति य नो वए।।

—सुत्रकृताङ्ग, २.५.४

'एकेन्द्रिय आदि क्षुद्र-छोटे शरीर वाले प्राणी हों अथवा पंचेन्द्रिय आदि बड़े-स्थूल शरीर वाले प्राणी हों, उनको मारने मे हिंसा सदृश होती है या असदृश, ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि हिंसा का दोष 'वधिक की भावना तीव्र या मन्द' आदि विविध प्रवृत्तियों पर निर्भर है।'

हम जब कुछ गहराई में उतरते हैं तब हमें यह ठीक-ठीक पता चल जाता है कि ऐसे सिद्धान्त दुनिया में कैसे चले ? एक पुरानी उक्ति है—''जीवो जीवस्य

जीवनम्'' – जीव, जीव का जीवन है। 'मच्छगलागल' से भी यही मतलब निकलता है। जैसे एक बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है, वैसे ही बड़े जीव छोटे जीवों को खाते रहते हैं। मनुष्य को खाना पड़ता है, पीना पड़ता है। इसमें शाक-सब्जी, धान-पानी, अग्नि, हवा के जीवों का वध होता रहता है। द्वीन्द्रिय आदि बड़े जीवों की भी हिंसा हो जाती है, यह उसकी आवश्यकता है, ऐसा किये बिना उसका निर्वाह नहीं हो सकता।

मनुष्यों में एक कमजोरी छिपी हुई होती है। वह हर जगह सचाई की ओर बढ़ने में रुकावट डालती है। इसीलिए उन्होंने यह एक सिद्धांत स्थापित कर लिया कि जो वस्तुएं उनके जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक हैं, उनमें हिंसा कैसे? आज यह सिद्धान्त इतना व्यापक है कि साधारण जन की रग-रग में यही बात रम रही है कि आवश्यकता की पूर्ति करने में कोई भी हिंसा नहीं। पर वास्तविकता कुछ और है।

हिंसा दो श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं, जैसे – अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। जो आवश्यकता से की जाए, वह अर्थ-हिंसा है और जो आवश्यकता बिना ही की जाए, वह अनर्थ-हिंसा है। अर्थ-हिंसा को गृहस्थ छोड़ नहीं सकता, यह उसकी विवशता है ; किन्तु वस्तुतः वह हिंसा ही है। मनुष्य की आवश्यकताएं पूरी करने में जो हिंसा होती है उसमें अहिंसा या धर्म कुछ भी नहीं, केवल वह स्वार्थ-हिंसा है। हिंसा में धर्म नहीं होता, वह चाहे, अपने लिए की जाये, चाहे और किसी के लिए। अतएव बड़ों के लिए छोटों का गला घोटने वाला सिद्धांत अहिंसा की दृष्टि से गलत है।

प्रश्न :

१. क्या एक चींटी को और एक हाथी को मारना बराबर है ?

२. क्या छोटे प्राणी को मारकर बड़े प्राणी को बचाना धर्म है ?

३. क्या अर्थ-हिंसा में भी पाप है ? यदि है तो क्यों ?

४. अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा में क्या भेद है ?

१८

धर्म

प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए साधना की आवश्यकता होती है, क्योंकि साधना के बिना हम जिसे सिद्ध करना चाहते हैं वह सिद्ध नहीं हो सकता। आत्म-शुद्धि हमारा साध्य है। हम आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था देखना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में हम आत्म-विकास के बाधक कर्म-बन्धनों से मुक्त होना चाहते हैं, मोक्ष चाहते हैं। पूर्ण आत्म-विकास या मोक्ष का जो साधन है, वह धर्म है।

धर्म दो प्रकार का है—संवर और निर्जरा। सीधे शब्दों में कहें तो त्याग और तपस्या। त्याग करने के बाद नए सिरे से बन्धन नहीं होता और तपस्या से पुराने सम्बन्ध टूट जाते हैं। इन दोनों की साधना करते-करते आत्मा कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाती है। हमें यहां संवर या निर्जरा का व्यापक अर्थ समझने की आवश्यकता है। हमने संवर और निर्जरा को त्याग एवं तपस्या कहा है पर इनका अर्थ केवल प्रतिज्ञा लेने एवं उपवास करने तक ही सीमित नहीं है।

प्रत्याख्यान (त्याग) तो संवर है ही। उसके अतिरिक्त आत्मा की आन्तरिक प्रवृत्तियों का निरोध हो जाना भी संवर है। आन्तरिक विकारजन्य प्रवृत्तियां जैसे, आत्म-शुद्धि के प्रति उदासीनता, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का अस्तित्व प्रत्याख्यान करके नहीं मिटाया जा सकता। वे तो आन्तरिक शुद्धि होने से ही मिट सकती है। तपस्या की परिधि विशाल है। उसमें प्रत्येक अहिंसात्मक प्रवृत्ति का समावेश होता है। अपनी भूलों का प्रायश्चित्त करना, विनय करना, संयमवर्धक सेवाएं करना, स्वाध्याय करना, ध्यान करना आदि सब तपस्या है। अब हमें धर्म और अधर्म का विभाजन करने वाली रेखा का ज्ञान करना है।

अहिंसा धर्म है। इसमें सब एक मत हैं। पर अहिंसा की सीमा क्या है ? इस पर एक दूसरे की विचार-धारा टकरा जाती है। इसलिए हमें इस विषय पर जैन दृष्टिकोण समझना जरूरी है। प्रत्येक संसारी आत्मा में दो प्रकार के आचारण पाये जाते हैं - निरोधात्मक एवं प्रवृत्त्यात्मक। निरोधात्मक का अर्थ है—संयम। यह निर्विवाद धर्म है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—धार्मिक एवं लौकिक। हमारा उद्देश्य इन दोनों के बीच में एक भेद-रेखा खींचना ही है। जिस

प्रवृत्ति से अहिंसा को, राग-द्वेष एवं मोहरहित आचरणों को पोषण मिले वह प्रवृत्ति धार्मिक है और उसके अतिरिक्त दूसरी जितनी प्रवृत्तियां हैं, वे सब लौकिक हैं।

धर्म के दस भेद होते हैं–१. क्षमा, २. मुक्ति (निर्लोभता), ३. आर्जव (सरलता), ४. मार्दव (कोमलता), ५. लाघव (अकिंचनता-निर्ममत्व), ६. सत्य, ७. संयम, ८. तपस्या, ९. त्याग और १०. ब्रह्मचर्य।

धर्म शब्द का व्यवहार कितने अर्थों में होता है ? लौकिक कार्य धर्म नहीं तो उन्हें कोई क्यों करेगा ? यदि कोई नहीं करेगा तो यह संसार-परम्परा कैसे चलेगी? आदि अनेक जटिल प्रश्नों का समाधान हम अगले पाठ में प्रस्तुत करेंगे। प्रस्तुत पाठ में हमें यह देखना है कि जीवन में धर्म कैसे उतारा जा सकता है?

धर्म केवल संसार त्यागकर संन्यास धारण करके ही नहीं किया जाता है। मनुष्य गृहस्थ रहता हुआ भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का आचरण कर सकता है। इतना अन्तर अवश्य होता है कि साधु-जीवन पूर्ण धार्मिक जीवन होता है और गृहस्थ जीवन में धार्मिक आचारण एवं लौकिक आचरण ये दोनों होते हैं।

परन्तु, यह मानना उचित नहीं है कि गृहस्थी में रहता हुआ कोई धर्म कर नहीं सकता। खाना, पीना, पहनना, व्यापार करना, असमर्थ को भौतिक सहयोग देना आदि गृहस्थ जीवन के अनिवार्य कर्त्तव्य हैं। ये सब लौकिक हैं। इनमें से प्रत्येक में धर्म का पालन किया जा सकता है। जैसे–खाने-पीने में आसक्ति, गृद्धि एवं लोलुपता न रखना धर्म है। वस्त्र पहनने में आडम्बर एवं दिखावे की भावना न रखना, धनोपार्जन करने में असत्य, अन्याय आदि का आचरण न करना धर्म है। भौतिक सहायता देने में भी अहंभाव न रखना धर्म है। भौतिक साधन गृहस्थ-जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है। उनका व्यवहार चाहे अपने लिए, चाहे किसी दूसरे गृहस्थ के लिये किया जाए, वह धर्म नहीं है। उसके व्यवहार में अहंभाव, आसक्ति न रखना धर्म है।

प्रश्न :

१. धर्म के कितने प्रकार हैं ?

२. अहिंसा धर्म के विषय में जैनों का प्रवृत्त्यात्मक दृष्टिकोण क्या है?

३. गृहस्थ अपने जीवन में धर्म कैसे कर सकता है?

४. संवर और त्याग में क्या अन्तर है?

१६

धर्म और लौकिक कर्त्तव्य

धर्म की वर्तमान दशा अत्यन्त संदिग्ध हो रही है। उसका एक कारण तो यह है कि धर्म का आचरण करना बहुत कठिन है। इसलिए लोग ज्यों-ज्यों उसे सरलता के ढांचे में ढालने की चेष्टा करते हैं। दूसरा कारण यह है कि कर्त्तव्य, स्वभाव, रीति-रिवाज, आत्म-साधना का उपाय आदि अनेक अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग होता है।

हम आत्म-साधना के लिए त्याग एवं तपस्या के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले धर्म शब्द को ही आध्यात्मिक धर्म मे लेते हैं। कुटुम्ब-पोषण करना गृहस्थ का धर्म है। शत्रु से लड़ना योद्धाओं का धर्म है। दीन-दुखियों की सहायता करना उदार व्यक्तियों का धर्म है। कष्ट-निवारण करना परोपकारी पुरुषों का धर्म है। यहां धर्म शब्द का प्रयोग कर्त्तव्य के अर्थ में हुआ है। उष्णता अग्नि का धर्म है। यहां धर्म शब्द का प्रयोग स्वभाव के अर्थ में हुआ है। गांव का धर्म, नगर का धर्म, राष्ट्र में बरती जाने वाली रीति-रिवाज, व्यवस्था के अर्थ में आया है। अहिंसा धर्म, संयम धर्म, तपस्या धर्म—इनमें धर्म शब्द का व्यवहार आत्म-साधना के मार्ग के अर्थ में हुआ है।

धर्म शब्द का प्रयोग किन-किन अर्थों में होता है, यह ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। एक ही धर्म शब्द अनेक भावनाओं को व्यक्त करता है किन्तु अब हमें यह देखना चाहिए कि धर्म से हमारा तात्पर्य क्या है? हम किसलिए कौन-सा धर्म चाहते हैं ? यदि लोकव्यवस्था करनी है तो गांव धर्म, नगर धर्म अपनाना होगा किन्तु उसके द्वारा आत्म-साधना नहीं की जा सकती। आत्म-साधना करनी है तो अहिंसा धर्म एवं सयंम धर्म अपनाना होगा। पर उसके द्वारा गांव और नगर की आवश्यक व्यवस्था पूरी नहीं हो सकती। एक गांव या नगर के धनी मानी लोगों से अर्थ लेकर दीन-अनाथों के लिए खाद्य सामग्री का प्रबन्ध करना है तो वह शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत ही किया जा सकता है, अहिंसा धर्म-संयम से नहीं।

धर्म शब्द के शाब्दिक विश्लेषण से हम यही समझते हैं कि आत्म-मुक्ति के लिए धर्म का जो अर्थ है वह दूसरे-दूसरे धर्म शब्दों से सर्वथा भिन्न है। जब

हम इनके अर्थ का विवेचन करते हैं तब इनका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आत्म-साधना का मौलिक मार्ग अपरिवर्तनीय है, सर्वसाधारण है तथा मुक्ति की ओर ले जाने वाला है। ग्राम-धर्म, नगर-धर्म परिवर्तनीय हैं–भिन्न-भिन्न देश, जाति या वर्गों के भिन्न-भिन्न हैं तथा बंधन की ओर ले जाने वाले हैं।

अपनी सुविधा के अनुसार जिन-जिन कामों को लोग कर्त्तव्य रूप से निर्धारित करते हैं, वह लौकिक कर्त्तव्य है। धर्म की परिभाषा हम पहले ही बता चुके हैं कि जो आत्म-साधना का पथ है, मोक्ष का उपाय है, वह धर्म है।

उपर्युक्त विवेचन से हम समझ सकते हैं कि धर्म किसके लिए है और लौकिक कर्त्तव्य किसके लिए। धर्म से हम कहां पहुंचना चाहते हैं और लौकिक कर्त्तव्य से कहां ? धर्म करने का हमारा लक्ष्य क्या है और लौकिक कर्त्तव्य का क्या है?

प्रश्न :

१. धर्म शब्द के कितने अर्थ हैं?

२. धर्म लौकिक कर्त्तव्यों से भिन्न क्यों है?

३. लौकिक कर्त्तव्यों का लक्ष्य क्या है?

४. दीन दुखियों की सहायता करना कौन-सा धर्म है?

२०

जैन धर्म

भारतीय संस्कृति दो धाराओं में प्रवाहित हुई है–वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति।

जैन और बौद्ध ये श्रमण संस्कृति के संवाहक हैं। 'श्रमण' शब्द श्रम, सम और उपशम इन तीनों ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

भगवान् महावीर से पूर्व तथा उनके बाद भी कुछ शताब्दियों तक 'जैन' शब्द का प्रचलन नहीं था। इस धर्म के तीन नाम प्रचलित थे–अर्हत्-धर्म, निर्ग्रंथ-धर्म या श्रमण-धर्म। भगवान् महावीर के निर्वाण के काफी समय बाद ''जैन'' शब्द प्रचलित हुआ।

जैन धर्म का शाब्दिक अर्थ है–जिन अर्थात् राग-द्वेष रूपी शत्रुओं के विजेता–वीतराग द्वारा प्ररूपित धर्म।

जैन धर्म किसी जाति विशेष का धर्म नहीं। यह सबका धर्म है। जैन धर्म जन-धर्म बनने की क्षमता रखता है। यह सम्प्रदायगत नहीं मानवगत है। प्राचीनकाल में समाज के सभी जाति के लोग इसके अनुयायी थे। अनेक क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इस परम्परा में दीक्षित हुए और अपनी साधना से जन-जन को आलोकित किया।

जैन धर्म भारतवर्ष का एक महान् धर्म है। वह इस अर्थ में महान् है कि जैन धर्म ने कुछ सिद्धांत, कुछ तत्त्व ऐसे सार्वभौमिक व शाश्वत दिये हैं जो आज भी युगीन समस्याओं का सम्यक् समाधान प्रस्तुत करते हैं।

जैन धर्म में व्यक्ति-पूजा को मान्यता नहीं दी गई है। वह गुण का पुजारी है। वह प्रत्येक व्यक्ति की अर्हताओं को मानकर उसकी पूजा करता है। इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य है–उसका चतुः-शरण सूत्र और नमस्कार महामंत्र। नमस्कार महामंत्र में किसी भी व्यक्ति का नामोल्लेख नहीं है। अपितु गुणों एवं व्यक्तित्व-विकास की वंदना है। गुणों को मुख्य मानकर नमस्कार किया गया है।

जैन धर्म-दर्शन बहुत प्राचीन है। इस काल चक्र में जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। उनमें प्रथम थे भगवान् ऋषभ और अन्तिम थे श्रमण भगवान

महावीर। प्रत्येक तीर्थंकर अपनी स्वतंत्र पद्धति से तीर्थ का प्रवर्तन और तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।

भगवान् महावीर ने धर्म, व्यवहार और तत्त्व के जिन तीन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया वे आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने ढाई हजार वर्ष पूर्व थे।

अनेकांत–जैन दर्शन, सत्य के साक्षात्कार का दर्शन है। इसलिए वह अनेकांत का दर्शन है। इस दर्शन के पुरस्कर्ता भगवान् महावीर थे। इस सिद्धांत को जैनाचार्यों ने बहुत आगे बढ़ाया। यह जीवन-दर्शन है। अनन्त दृष्टिकोण से तत्त्व को देखना, परखना अनेकांत है और उसका प्रतिपादन करना स्याद्वाद है।

एक बार राम ने हनुमान से पूछा–''बताओ, अशोक वाटिका में फूल कैसे थे।'' हनुमान ने तपाक से कहा–''वहां सारे फूल लाल थे।'' सीता से पूछा गया–सीता ने कहा–''वहां सारे फूल सफेद थे।'' दोनों के बीच बात तन गई। भला आंखों देखा झूठ कैसे हो सकता था ? राम ने समाधान की भाषा में कहा–''तुम दोनों ही सही हो। हनुमान! जब तुम अशोक वाटिका में गए तो तुम्हारी आंखें गुस्से में लाल हो रही थीं, इसलिए तुम्हें वहां के सारे फूल रक्ताभ ही नजर आ रहे थे। सीता शांत बैठी थी, अतः उसने वहां के फूलों को श्वेतिमा में ही देखा।''

प्रत्येक व्यक्ति का वस्तु को देखने परखने का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। कौन किस अपेक्षा से किस संदर्भ में क्या कर रहा है यह समझ लिया जाये तो सभी उलझने स्वयं समाप्त हो जाती हैं।

भगवान् महावीर की आधुनिक युग को यह सबसे बड़ी देन है। हम सापेक्षता का प्रयोग नहीं करते–इसलिए धर्म सम्प्रदायों में वैमनस्य चलता है। पारिवारिक जीवन में विग्रह पनपते हैं। टूटन और बिखराव होता है। समाज में संघर्ष चलता है। राजनीति में लड़ाइयों का तनावपूर्ण, हिंसापरक प्रदर्शन होता है। सभा-संस्थाओं में उलझने पैदा होती हैं। सुखी और शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए बहुत जरूरी है कि हम सापेक्षता का जीवन जीयें।

विज्ञान के क्षेत्र में डॉ. आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद की स्थापना की और विज्ञान की बड़ी-बड़ी गुत्थियों को सुलझाया। उन्होंने सापेक्षवाद के द्वारा नये-नये तथ्यों की व्याख्या की।

अहिंसा–सब जीवों के प्रति संयम करना, समभाव रखना, आत्मौपम्य बुद्धि को विकसित करना अहिंसा है। महावीर ने अहिंसक क्रांति के लिए जनता

के सामने ये सूत्र प्रस्तुत किए—

किसी का वध मत करो।

वैर से वैर की परम्परा बढ़ती है, इसलिए किसी से वैर मत करो।

इस सूत्र से अपने आपको भावित करो—

मैं सब जीवों को आत्म-तुल्य मानता हूं। वे भी मुझे आत्म-तुल्य मानें। मेरी सबके प्रति मैत्री है, किसी के प्रति मेरा वैर नहीं है।

उस समय स्वर्ग-प्राप्ति के लिए पशु-बलि दी जाती थी। महावीर ने कहा—जो पशु-बलि देता है, वह पशुओं की हिंसा कर अपने लिए नरक का द्वार खोलता है।

आक्रामक नीति, मांसाहार, शिकार आदि हिंसाप्रवृत्तियों की वर्जना का उपदेश उन्होंने दिया।

इस प्रकार जैन धर्म की अहिंसा विभिन्न धर्मों, जातियों एवं मनुष्यों को जोड़ती है।

अपरिग्रह—अपरिग्रह का आधार है—मूर्च्छा और ममत्व का अभाव। 'मुच्छा परिग्गहोवुत्तो'। वस्तु परिग्रह नहीं है, परिग्रह है—उसके प्रति होने वाली मूर्च्छा-आसक्ति। आवश्यकता-भर सम्पत्ति और आवश्यकता-भर लोभ जीवन-यापन के लिए आवश्यक होता है। अनावश्यक लोभ की मनोवृत्ति मूर्च्छा के कारण होती है। आज समाजवाद और साम्यवाद की चर्चा चल रही है। पर हमारी आशा-आकांक्षाएं आसमान छूने के लिए उतावली हैं। इस संदर्भ में महावीर ने इच्छा-परिमाण का एक व्रत दिया। यह उनकी महान् देन है।

महावीर के युग में भारतीय समाज, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्गों में बंटा हुआ था। जिस वर्ग का अहं पुष्ट हुआ उसने उच्चता-नीचता की दीवारें खड़ी कर दीं, जन्मना जाति स्थापित हो गई। परस्पर घृणा और छुआछूत के संस्कारों ने जन्म लिया। महावीर ने इस व्यवस्था को अमानवीय घोषित किया। उन्होंने कहा—किसी जाति को घृणित या अस्पृश्य मानना भयंकर हिंसा है। व्यक्ति कर्म से ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र होता है जन्म से नहीं। जाति और कुल तुम्हें त्राण नहीं दे सकते। ज्ञान की आराधना और चारित्र का आचरण ही तुम्हें त्राण दे सकता है। जाति या कुल का अभिमान कैसा ? महावीर ने सब जाति के लोगों को अपने धर्मसंघ में दीक्षित कर—'मनुष्य जाति एक है'—इस सत्य को स्थापित किया।

महावीर ने तत्कालीन दास-प्रथा की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कहा–दास बनाना अमानवीय है, स्वतन्त्रता का हनन है, हिंसा है, इसलिए किसी को दास मत बनाओ।

उस समय पुरुष स्त्रियों को और शासितों को पराधीन रखना अपना अधिकार मानते थे। महावीर ने इस हिंसा की ओर जनता का ध्यान खीचा और कहा–'किसी की स्वतंत्रता का अपहरण हिंसा है। इसलिए किसी को पराधीन मत बनाओ।'

अपने राष्ट्रपति-काल में डॉ. राधाकृष्णन ने कहा था–महावीर के विचारों का और उनकी क्रियांविति का आज सबसे सुन्दर अवसर हमारे समाने है। आज हमारे राष्ट्र की राजनीति महावीर के अनुकूल चल रही है।

न जाने कितने सिद्धांत जो आज हमारे व्यवहार में आ रहे हैं–चाहे हम अहिंसा को लें, चाहे मैत्री को लें, चाहे सापेक्षता को लें, चाहे सह-अस्तित्त्व को लें, चाहे स्वतन्त्रता को लें, चाहे समाजवाद-साम्यवाद को लें–इनका मूल हमें महावीर वाणी में अवश्य मिलेगा। महावीर के अनेक सिद्धांत ऐसे हैं–जिनकी उपयोगिता आज भी हमारे सामने है। आज भी वे सिद्धांत सहायक और नए प्रतीत हो रहे हैं।

प्रश्न :

१. जैन धर्म का शाब्दिक अर्थ क्या है?

२. जैन धर्म के आधारभूत तत्त्व क्या है?

३. क्या जैन धर्म व्यक्ति पूजा को स्थान देता है?

४. क्या जैन धर्म में जातिवाद को स्थान है?

२१

सृष्टि के विषय में जैन दर्शन का दृष्टिकोण

प्रश्न – यह जगत् कब बना और किसने बनाया?

उत्तर – यह जगत् अनादि है। अनादि पदार्थ अकृत्रिम होता है। उसका कोई कर्त्ता नहीं होता।

प्रश्न – यदि यह जगत् अनादि है तो इसे सृष्टि क्यों कहा जाता है ? क्योंकि सृष्टि का अर्थ होता है रचना और रचना उसे कहते हैं जो किसी की बनाई हुई चीज हो?

उत्तर – पहली बात तो यह है कि जैन-दर्शन जगत् को सृष्टि नहीं कहता। जगत् को सृष्टि वे लोग कहते हैं, जो इसकी किसी सर्व-शक्तिमान के द्वारा रचा हुआ मानते हैं। दूसरी बात, यदि जैन भी अपेक्षावाद के आधार पर इसका प्रयोग करें तो कोई आपत्ति नहीं। जैसे जगत् स्वरूप से अनादि है, किंतु इसमें काल, स्वभाव, उद्योग के द्वारा जड़ एवं चेतन पदार्थों में जो परिवर्तन, संघटन-विघटन होते रहते हैं, वह एक प्रकार से सृष्टि ही है - चेतन और अचेतन पदार्थों की रचना है, अतः परिवर्तन की अपेक्षा से जगत् को सृष्टि कहा जा सकता है।

प्रश्न – यदि जगत् को कोई उत्पादक माना जाए तो क्या आपत्ति है?

उत्तर – इसके बारे में यह शंका होती है कि सृष्टिकर्त्ता कब उत्पन्न हुआ? यदि वह सादि है तो क्या अपने आप उत्पन्न हो गया या किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ? यदि सृष्टिकर्त्ता अपने आप उत्पन्न हो सकता है, तब जगत् अपने आप क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता है? और यदि जगत्कर्त्ता को उत्पन्न होने में किसी अन्य कारण की आवश्यकता हुई तो वह कारण क्या था? और वह कैसे उत्पन्न हुआ था? अपने आप या किसी अन्य कारण से? इस प्रकार न तो इस प्रश्न का अन्त होगा और न उस जगत्कर्त्ता की उत्पत्ति का समय ही निकल सकेगा, अतः उसे सादि मानना तो अयुक्त है ही, और यदि जगत्कर्त्ता अनादि है तब फिर जगत् को अनादि मानने में कौन-सी बाधा है ?

प्रश्न – इस जगत् का अन्त कब होगा?

उत्तर – कभी नहीं, यह अनन्त है।

प्रश्न – जगत् अनादि-अनन्त है, तब फिर ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं?

उत्तर – नहीं!

प्रश्न – क्या जैन-दर्शन ईश्वर को नहीं मानता?

उत्तर – मानता है।

प्रश्न – किसलिए?

उत्तर – वस्तु-स्थिति का निरूपण करने के लिए।

प्रश्न – तो वह कौन है?

उत्तर – जो आत्माएं तपस्या एवं संयम के द्वारा कर्म-मल का विशोधन कर आत्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाती है, उनको ईश्वर परमात्मा, सिद्ध, मुक्त कहते हैं।

प्रश्न – तो क्या ईश्वर अनेक हैं?

उत्तर – हां, अनन्त हैं।

प्रश्न – वे कहां हैं?

उत्तर – ऊर्ध्व-लोक के अग्रभाग पर स्थित हैं।

प्रश्न – उसके आगे क्यों नहीं जाते?

उत्तर – उसके आगे अलोक है। अलोक में धर्मास्तिकाय नहीं होती, अतः वहां कोई भी नहीं जा सकता।

प्रश्न – क्या वे कभी इस लोक में भी आते हैं?

उत्तर – नहीं। क्योंकि वे आत्माएं कर्म-मल धुल जाने से इतनी हल्की हो जाती हैं कि फिर वापस नीचे आ नहीं सकतीं।

प्रश्न – वहां ठहरी हुई मुक्त आत्माएं क्या करती हैं?

उत्तर – आत्म-स्वरूप का अनुभव करती हैं।

प्रश्न – क्या वे प्राणीयों को शुभाशुभ कर्मों का फलोपभोग नहीं करवातीं?

उत्तर – नहीं।

प्रश्न – तो फिर जड़-कर्म जीवों को यथोचित फल कैसे दे सकेंगे? और प्राणी भी अपने अशुभ कर्मों का फल भोगने को क्यों तैयार होंगे?

उत्तर – कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से उनमें एक शक्ति पैदा होती है और जब वह परिपक्व हो जाती है, तब जिस प्रकार पथ्याहार, विष या

मदिरा का असर होता है, वैसे ही जीवों की बुद्धि भी कर्मानुसार हो जाती है और वे उनका अच्छा या बुरा फल भोग लेते हैं। क्लोरोफार्म आदि स्थूल पौद्‌गलिक वस्तुओं में भी आत्मा को मूर्च्छित करने की शक्ति रहती है, तब अति सूक्ष्म कर्माणुओं में आत्मा को व्याकुल बनाने की क्षमता हो, इसमें क्या आश्चर्य है?

प्रश्न–आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कब हुआ?

उत्तर–यह सम्बन्ध अनादि-कालीन है।

प्रश्न–तब आत्मा मुक्त कैसे होगी? क्योंकि जो अनादि है, उसका अन्त नहीं होता।

उत्तर–आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि है, व्यक्ति रूप से नहीं; अर्थात् एक कर्म आत्मा के साथ निरन्तर चिपका हुआ नहीं रहता अपितु निश्चित समय तक ही रह सकता है, अतः आगामी कर्म-द्वार का सर्वथा निरोध एवं पूर्व कर्मों का पूर्ण क्षय होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है।

प्रश्न :

१. इस लोक का कोई कर्त्ता नहीं है, इसे ठीक-ठीक समझाओ।

२. क्या जैन-दर्शन अनीश्वरवादी है?

३. जड़ कर्म चेतन आत्मा को फलोपभोग कैसे करवाते हैं?

४. मुक्त आत्माएं सिद्धालय में क्या करती हैं?

५. अनादिकाल से लगे हुए कर्मों से आत्मा की मुक्ति किस प्रकार होती है?

२२

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

सम्यक्त्व

लक्ष्य तक पहुंचने का सबसे बड़ा उपाय विश्वास है। प्रत्येक कार्यक्षेत्र में इसका सर्वोपरि महत्त्व है। धर्म क्षेत्र में तो वह सब साधनों का मूल माना गया है, परन्तु वह मूल्यवान् तभी हो सकता है जब वह सत्य हो। मिथ्या विश्वास से तो मनुष्यों की अधोगति होती है। जैन-दर्शन ने मोक्ष के चार साधन माने हैं, उनमें पहला स्थान सम्यग्-दर्शन का है। सम्यग्-दर्शन का अर्थ है–सत्य में विश्वास। जो वस्तुएं जैसी हैं उन पर वैसा ही विश्वास करना सम्यत्व है, सत्य पर विश्वास है।

सम्यक्त्व धर्म का अविछिन्न अंग है, इसलिए हमारा ध्यान धर्मक्षेत्र की ओर केन्द्रित होता है। धार्मिक जगत् में देव, गुरु और धर्म–ये तीन तत्त्व जिनको रत्नत्रयी कहते हैं, मुख्य माने जाते है। सम्यक्त्व की प्राप्ति इन्हीं के निर्णय पर अवलम्बित हैं, वह प्राणी सम्यक्त्व पा सकता है, जो इन तीनों को सत्य की कसौटी पर कस कर दृढ निश्चयी हो जाता है।

अरहन्तो महदेवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो
जिण पण्णत्तं तत्तं इय सम्मत्तं मए गहियं

देव

दर्शन के संस्थापक को देव कहते हैं। वे सर्वज्ञ होने चाहिए। सर्वज्ञ हुए बिना पदार्थों का यथावस्थित निरूपण नहीं किया जा सकता और उस (यथार्थ निरूपण) के बिना संसार मोक्ष आदि का सही पता नहीं चलता। जो सर्वज्ञ होते हैं, वे वीतराग अवश्य होंगे, क्योंकि राग-द्वेष पर विजय पाये बिना कोई भी सर्वज्ञ नहीं बन सकता, अतः वीतराग पुरुष को ही देव कहते हैं।

गुरु

सर्वज्ञ-भाषित धर्म के उपदेशक एवं जीवन पर्यन्त पांच महाव्रतों को पालने वाले साधु गुरु कहलाते हैं।

धर्म

'आत्मशुद्धि साधनं धर्मः'–जो कार्य आत्मा की शुद्धि करने वाला है, वह

धर्म है। अथवा अरहंत भगवान् ने जो उपदेश दिया है, उस पर आचरण करना धर्म है। इस प्रकार देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व का लक्षण है।

मिथ्यात्व

जो प्रकाश को जानता है, वह अन्धकार को अपने आप जान लेगा। सम्यक्त्व को जान लेने के बाद मिथ्यात्व को पहचानना कोई कठिन नहीं। फिर भी इस पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेना चाहिए। विश्वास के बिना मनुष्य कहीं सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य में विश्वास होना उसकी सफलता का शुभ चिह्न माना गया है। पर वह विश्वास सत्य व ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। कोरा अन्धविश्वास लाभ के बदले हानि अधिक कर सकता है।

धर्म मार्ग में सत्य-सम्मत विश्वास को ही मोक्ष का उपाय बतलाया है। असत्य एवं विपरीत विश्वास मिथ्यात्व माना गया है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उसके दस प्रकार किए हैं, जैसे–

धर्म को अधर्म एवं अधर्म को धर्म समझना।
साधु को असाधु एवं असाधु को साधु समझना।
मार्ग को कुमार्ग एवं कुमार्ग को मार्ग समझना।
जीव को अजीव एवं अजीव को जीव समझना।
मुक्त को अमुक्त एवं अमुक्त को मुक्त समझना।

धर्म वह है, जिसके द्वारा मोक्ष की साधना की जा सके। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह–इस पांच महाव्रतों को पालने वाले साधु होते हैं। जिस तपस्या के द्वारा आत्मा उज्ज्वल हो, वह मार्ग है। जिसमें जानने की–अनुभव करने की शक्ति हो, वह जीव है। जिस आत्मा का कर्म-मल–आवरण सर्वथा दूर हो जाता है, वह मुक्त कहलाता है।

जीव मूल तत्त्व है। धर्म और मार्ग–ये दो जीव की विशुद्धि के साधन हैं। साधु साधना का अग्रदूत है और साधना का अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट फल मोक्ष है। इन सब पर यथार्थ श्रद्धा न रखने वाले व्यक्ति मिथ्यात्वी कहलाते हैं। जैन दर्शन में मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व का सिद्धांत किन्हीं पर आक्षेप करने या स्वयं को उत्कृष्ट बतलाने के लिए नहीं रचा गया है। यह तो गुणावगुण पर आश्रित है। जिन व्यक्तियों में सम्यक् श्रद्धा (सत्य विश्वास) मिले, वे सम्यक्त्वी और जिनमें न मिले, वे मिथ्यात्वी हैं। सम्यक्त्वी, गुरु आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके

बन सकता है एवं आत्म-शुद्धि होते-होते अपने आप भी। मिथ्यात्वी भी कई-कई प्रबल कर्मोदय से अत्यधिक कषायरत एवं विपरीत तत्त्वों के पक्षपाती होते हैं जो आभिग्राहिक (दुराग्रही) कहे जाते हैं और कई अनाभिग्राहिक होते हैं, यानी उन्हें सत्य तत्त्व की परीक्षा का अवसर न मिलने के कारण ही वे मिथ्यात्वी हैं, किन्तु उनमें असत्य का कोई पक्षपात नहीं है।

मिथ्यात्वी सब बातों में भ्रांत रहते हैं एवं उनकी धार्मिक प्रवृत्तियां भी लाभदायक नहीं होतीं, ऐसा मानना एकांत भ्रम है। बहुधा यह पूछ लिया जाता है कि अमुक व्यक्ति सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी ? पर यह पूछने का विषय नहीं, यह तो अनुभवगम्य है। निश्चय दृष्टि से तो कौन कहे, व्यवहार में मिथ्यात्वी एवं सम्यक्त्वी की पहचान के लिए भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाए गए हैं। जिनमें जो लक्षण मिलते हैं, उन्हें वैसा ही समझ लेना चाहिए।

प्रश्न :

१. जैन धर्म में सम्यक्त्व का महत्त्व क्यों है?

२. धर्म की परिभाषा बताएं।

३. रत्नत्रयी किसे कहते हैं?

४. मिथ्यात्वी किसे कहते हैं?

५. सही बात को उल्टी जानना मिथ्यात्व है या नहीं?

६. निश्चयपूर्वक हम किसी को मिथ्यात्वी कह सकते हैं या नहीं?

७. क्या मिथ्यात्वी की धार्मिक क्रियाएं धर्म नहीं हैं?

२३

जैन संस्कृति

व्रत

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। उसका अर्थ है—संयम और संवर। वह आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के प्रति अनासक्ति का सूचक है। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है।

जैन परंपरा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा के पालन में बाधा न आए, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्ही के लिए है—जिनमें आत्म बल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रंथ शब्द अपरिग्रह का प्रतीक है और जैन शब्द कषाय विजय का। इस प्रकार जैन-संस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्मविजय की धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिव्यक्त हुई है। एक शब्द में जैन संस्कृति त्याग मूलक संस्कृति है।

जैन-दर्शन आत्मा के मूलस्वरूप को प्रकट करने के उद्देश्य से चलता है और संवर-निर्जरा के द्वारा उसे प्राप्त कर अन्तिम ध्येय तक पहुंच जाता है। जैन-संस्कृति का निर्माण इन्हीं के आधार पर हुआ है। अपनी संस्कृति को भुला देने का अर्थ होता है अपने लक्ष्य को भूला देना।

अपनी आत्मा को ही सुख-दुःख का कर्त्ता-धर्त्ता मानने वाला कष्ट आ पड़ने पर कहे कि 'क्या किया जाए ईश्वर की ऐसी ही इच्छा थी' और कुछ लाभ हो जाने पर यह कहे कि 'ईश्वर की बड़ी कृपा है' किसी की मृत्यु हो जाने पर संवेदना प्रकट करते हुए कहे कि 'ईश्वर उस मृत आत्मा को शांति पहुंचाए'—ये बातें आत्म-कर्तृत्ववादियों के लिए अनुचित ही नहीं अपितु उनके सिद्धांत का गला घोटती हैं।

जैन संस्कृति में जहां आत्म-सामर्थ्य एवं आत्म-स्वातंत्र्य का चरमकोटिक उपदेश है, वहां उसके अनुयायी भौतिक अभिसिद्धि की लालसाओं की पूर्ति के

लिए देवता और देवी के नाम पर लड़खड़ाते रहें, क्या यह उनके अनुकूल है? विवाह हुआ और सारे देवी-देवताओं के द्वार खटखटाये जाते हैं। कोई कुछ गड़बड़ी हुई कि 'सीरणी' (प्रसाद) बोली जाती है। 'सीरणी' का प्रयोग तो इतना साधारण है कि मानो यह तो हर बीमारी की अचूक दवा है। कहां तो जैन-दर्शन का आत्म-विश्वास और कहां ये डांवाडोल करने वाली क्रियाएं। जैन शास्त्रों पर दृष्टि डालिए, जहां गृहस्थों का वर्णन करते हुए लिखा है–निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा रखने वाले गृहस्थों को देवता भी धर्म से विचलित नहीं कर सकते और वे देवताओं की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते। जैन संस्कृति जितेन्द्रिय पुरुषों की संस्कृति है। इसमें जितेन्द्रिय एवं वीतराग पुरुषों की प्रधानता रही है, अतः उसका ध्यान जरूरी है। इसके अनुसार किसी कार्य के प्रारंभ में 'श्री वीतरागाय नमः' 'ओं नमः सिद्धेभ्यः' 'ओं नमो जिनाय', लिखना तथा आपसी मिलन पर 'जय जिनेन्द्र' कहना जैन-संस्कृति का सूचक होता है।

अब कुछ मृतक-क्रिया की ओर भी दृष्टि डालिए। श्राद्ध करने का मतलब है –मृतकों को शांति पहुंचाना। खाये कोई और ही और शांति किसी को मिले–यह बात कर्मवाद के सिद्धांत पर एक लांछन है। मरने के बाद गंगाजी में फूल डलवाना जैन-संस्कृति के प्रतिकूल है। मृत्यु के समय म्रियमाण व्यक्ति असीम कष्ट से गुजरता है। उसे छूने मात्र से अपार दुःखानुभव होता है। उस स्थिति में उसे चारपाई या बिछौने से उठाकर नीचे रखने की चेष्टा की जाती है, क्या यह अनर्थ हिंसा नहीं है? बच्चों के जन्म दिन पर कैक काटना, विवाह-शादि पर फूलों की सजावट करना, भोज्य पदार्थों में पशुओं की आकृति बनाना–ये सब हिंसा की संस्कृति है। इन सब क्रियाओं में आत्मा के कर्मों का बन्धन होता है। इसलिए जिनको जैन धर्म में आस्था हो, कर्म व पुरुषार्थ पर विश्वास हो, उनको इस सब बातों से दूर रहना चाहिए, जिससे कि आने वाली पीढ़ी सही मार्ग का अनुसरण कर सके।

प्रश्न :

१. अन्य संस्कृतियों की उन दो प्रथाओं के नाम बताओ जिन्हें जैन लोग भी करते हैं?

२. जैन गृहस्थों की विशेषताओं का वर्णन शास्त्रों में किस प्रकार हुआ है?

३. जैन संस्कृति का आधार क्या है?

२४

तेरापंथ के पर्व

प्रत्येक समाज में पर्व का विशिष्ट स्थान होता है। जिस समाज में पर्व (उत्सव) नहीं होते वह समाज संगठित नहीं रह सकता। संगठन के लिए आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक पर्व को सोत्साह मनाया जाय।

तेरापंथ एक समाज है। उसके अपने पर्व हैं और उनका एक विशिष्ट स्थान भी है।

तेरापंथ धर्म-संघ में प्रतिवर्ष प्रमुख रूप से चार महोत्सव मनाये जाते हैं– मर्यादा-महोत्सव, तेरापंथ-स्थापना-दिवस, चरम महोत्सव और पट्टोत्सव।

मर्यादा महोत्सव

मर्यादा-महोत्सव तेरापंथ साधु संस्था के संगठन का अनन्य प्रतीक है। यह महोत्सव मर्यादा-निर्माण के उपलक्ष्य में प्रारंभ हुआ था, इसलिए इसका मूल नाम 'मर्यादा-महोत्सव' है और यह माघ महीने में होता है, इसलिए इसे 'माघ महोत्सव' भी कहते हैं।

आचार्यश्री भीखणजी ने वि.सं. १८५९ की माघ शुक्ला सप्तमी के दिन अन्तिम मर्यादाओं का निर्माण किया था। उनसे तेरापंथ की आन्तरिक व्यवस्थायें और भी अधिक मजबूत हुई। बहुत वर्षों के बाद जब कभी साधु इकट्ठे होते, जब ये सुना दी जातीं, किन्तु उसको कोई नियत उत्सव का रूप नहीं दिया गया। विक्रम सम्वत् १९२१ में जयाचार्य ने उस दिन को महोत्सव के रूप में नियत कर दिया। वह प्रथम मर्यादा महोत्सव जयाचार्य ने बालोतरा में संपन्न किया।

इस अवसर पर आचार्यश्री की विशेष आज्ञा प्राप्त साधु-साध्वियों के अतिरिक्त शेष सब साधु-साध्वियों का आना अनिवार्य कर दिया गया इस नियम के अनुसार चातुर्मास पूर्ण होते ही साधु-साध्वियां जहां आचार्यश्री विराजते हों, वहीं आ जाते हैं। आचार्वर के पास पहुंच कर, उनमें जो मुखिया होते हैं, वे पुस्तक पन्ने, साधु-साध्वी और स्वयं को उनके सामने समर्पित कर देते हैं। ''मुझे आप जहां रखेंगे, वहीं मैं रहूंगा'' इन विनम्र शब्दों में अपना सर्वस्व गणाधिनायक के चरणों में अर्पित कर देते हैं।

मार्गशीर्ष कृष्णा १ से माघ शुक्ला सप्तमी तक साधु-साध्वियों के आने एवं विशाल संख्या में एकत्र रहने का दृश्य भी बड़ा अद्‌भुत रहता है। दो-ढाई महीनों तक अन्यत्र विहार करने वाले साधु-साध्वियों को आचार्यश्री की सेवा में रहकर ज्ञान-ध्यान, सद्‌भावना एवं सद्‌विचारों की उन्नति करने का अवसर मिल जाता है। गत वर्ष में किये हुए धर्म-प्रचार, रहन-सहन, आचार-विचार आदि का पूरा ब्यौरा लिखित रूप में सब अग्रगामी साधु-साध्वियां आचार्यश्री के सम्मुख निवेदित करते हैं। आचार्यश्री स्वयं उनकी देखभाल करते हैं।

बस, सप्तमी का दिन आया और मध्याह्न में विशाल सभा-मंडप के मध्य में एक ऊंचे आसन पर आचार्यवर विराजते हैं। उनके चारों ओर साधु-साध्वियां एवं हजारों दर्शनार्थी पुरुष और महिलाएं उत्सुकता के साथ बैठ जाते हैं। तत्पश्चात् मंगल-गान के साथ महोत्सव का उद्‌घाटन होता है। प्रारंभ में बालक साधु कविताएं पढ़ते हैं। उसके बाद आचार्यश्री का एक प्रभावशाली प्रवचन होता है जिसमें स्वामीजी द्वारा लिखित मर्यादाओं का पुनरुच्चारण करते हुए आचार्यवर उनको यथार्थ रूप में पालने की शपथ दिलवाते हैं। आचार्यश्री के शब्दों को दोहराते हुए साधु-साध्वियों के स्वरों से समूचा वातावरण गूंज उठता है।

उसके बाद आचार्यश्री द्वारा साधु-साध्वियों के आगामी चातुर्मास घोषित किए जाते हैं।

एक क्षण के पहले जिनको पता नहीं होता कि हम कहां जाएंगे, आचार्यप्रवर उनको सम्बोधित करते हुए आदेश देते जाते हैं और वे बिना ननुनच के खड़े होकर बद्धाञ्जली सिर झुकाते हुए स्वीकार करते जाते हैं। तब लोगों को अनुशासन का विलक्षण प्रभाव मालूम पड़ता है।

मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न होने के बाद आचार्यवर के आदेशानुसार साधु-साध्वियां अपनी-अपनी विहार-भूमि की ओर प्रस्थान कर देते हैं। विहार के समय वन्दना आदि से आपस में प्रकट होने वाला विशुद्ध प्रेम भी दर्शकों को मंत्रमुग्ध बना देता है। इस विशुद्ध प्रेम, संगठन एवं हार्दिक अनुशासन की अलौकिक विशेषताओं को निहारने के लिए दूर-दूर से हजारों यात्री आया करते हैं। तेरापंथ समाज का यह एक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक उत्सव है।

तेरापंथ स्थापना दिवस

विक्रम संवत् १८१७ आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन शुभ मुहर्त्त में केलवा

(मेवाड़) में आचार्य भिक्षु ने भाव-दीक्षा स्वीकार की। उसी दिन को तेरापंथ-स्थापना-दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस दिन तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्यप्रवर भिक्षु की स्मृति की जाती है और तेरापंथ के प्रारंभ की स्थितियों का विश्लेषण किया जाता है। वास्तव में यह दिन तेरापंथ के इतिहास का आदि दिन माना जाता है।

चरम-महोत्सव

वि.सं. १८६० भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी के दिन सिरयारी में तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भीखणजी का स्वर्गवास हुआ था, इसलिए उस दिन को प्रतिवर्ष चरमोत्सव के रूप में मनाया जाता है। चतुर्विध संघ उनकी स्मृति में श्रद्धांजली अर्पित करता है। साधु-साध्वियां भी अपने-अपने स्थान पर इस समारोह को मनाते हैं।

पट्टोत्सव

संघ के वर्तमान आचार्य जिस दिन आचार्य-पद पर आसीन होते हैं, उस तिथि को यह समारोह मनाया जाता है। इस दिन साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएं गीतिकाओं, कविताओं और भाषणों के द्वारा वर्तमान आचार्य के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। आचार्यश्री अपने विगत वर्ष का सिंहावलोकन करते हैं। वर्तमान में आचार्यश्री महाश्रमण का पट्टोत्सव बैशाख शुक्ला १० को मनाया जाता है।

प्रश्न :

१. मर्यादा-महोत्सव की स्थापना कब हुई?

२. मर्यादा-महोत्सव से क्या लाभ है?

३. चरम-महोत्सव कब मनाया जाता है?

४. वर्तमान में पट्टोत्सव किस तिथि को मनाया जाता है?

५. तेरापंथ स्थापना दिवस की तिथि कौन-सी थी?

२५

परमेष्ठी-स्मरण-विधि

नमस्कार महामंत्र का स्मरण जैन उपासना-पद्धति का एक अंग है। प्रत्येक धर्म में इष्ट-स्मरण को अधिक महत्त्व दिया जाता है। जैन परम्परा में भी इष्ट-स्मरण का मुख्य स्थान है। प्रत्येक जैन इस महामंत्र के स्मरण को अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता है। जैन-धर्म व्यक्ति की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्त्व देता है, अतः इष्ट मंत्र में पवित्रता को प्रधानता दी है। पवित्रता के बार-बार स्मरण से आत्मा में पवित्रता आने लगती है। चैतन्य की जागृति करने के लिए उपासना-जगत् में इष्ट-स्मरण का प्रचलन है, जिसे जप करना भी कहा जाता है।

जप के मुख्यतः दो भेद हैं–

१. मानसिक २.वाचिक।

जिस जप में इष्ट मंत्र की, आवृत्ति केवल मन में की जाती है उसे मानसिक जप कहते हैं। बाह्य-इन्द्रिय-व्यापार का निरोध कर मंत्र के अर्थ का चिंतन मन में पुनः-पुनः करना होता है।

जिस जप में स्पष्ट रूप में मंत्र का बाहर उच्चारण किया जाए उसे वाचिक-जप कहा जाता है, मंत्र-जाप विधिपूर्वक करने से ही लाभ होता है।

जप की विधि

जप करने के लिए केवल उच्चारण ही पर्याप्त नहीं होता है। उसके लिए स्थान, काल और भाव की जानकारी तथा उनका समुचित संयोजन भी जरूरी है। इनसे मन को स्थिर होने का सम्बल मिलता है। मन पर बाह्य स्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। सम्यक् स्थान आदि मन को स्थिर करते हैं और असम्यक् उसमें चंचलता लाते हैं।

जप के समय वस्त्र, माला, आसन आदि बहुमूल्य और अस्वच्छ नहीं होने चाहिए। चमकीले रंगों के वस्त्र, सुन्दर आभूषण आदि मन में चंचलता उत्पन्न कर सकते हैं। इसी प्रकार चांदी-सोने की माला भी अस्थिरता उत्पन्न कर सकती है। जाप में मन को स्थिर करने के लिए सादगीपूर्ण वेश-भूषा को ही उपयुक्त माना है।

जप के लिए स्थान पवित्र और एकांत होना चाहिए। मन में असमाधि उत्पन्न हो ऐसा स्थान जाप के लिए अनुपयुक्त बतलाया गया है। इसी प्रकार जहां बच्चे क्रीड़ा करते हों, कोलाहल हो, प्राणियों का आवागमन हो, भय उत्पन्न हो, मच्छर आदि जंतुओं की बहुलता हो, ऐसे स्थान भी अनुपयुक्त हैं।

जप में बैठते समय काल का विवेक भी आवश्यक है। आचार्यों ने तीन सन्धि-बेला को जप का सम्यक् समय माना है–प्रातःकाल सूर्योदय की सन्धि, मध्याह्नकाल की सन्धि, सायंकाल की सन्धि। इनमें भी प्रातःकाल की सन्धि को अत्युत्तम माना गया है। उस समय विचार शांत और मन प्रसन्न रहता है।

जिस मंत्र का जप किया जाय उसी को अपने में साकार देखना चाहिये। तन्मय बने बिना मंत्र का जप केवल रटनक्रिया मात्र रह जाता है।

माला कैसे रखें ?

माला को दाहिने हाथ में हृदय के निकट लेकर स्थिर आसन में उत्तर या पूर्व की ओर मुख कर बैठा जाता है। सामने अंगूठे और मध्यमा द्वारा माला के मनकों की गणना की जाती है।

काष्ठ माला की अपेक्षा कर माला को अधिक उत्तम माना गया है। कर माला का तात्पर्य हाथ के पैरवों पर गणना किए जाने वाली माला से है।

एक हाथ की अंगुली के तीन-तीन पैरवे होते हैं, चार अंगुलियों के बारह पैरवे हो जाते हैं। प्रत्येक पैरवे पर मंत्र का जप करने से बारह बार मंत्र का जप हो जाता है। इस प्रकार ९ बार जप करने से १०८ मंत्र की पूरी माला हो जाती है। इसे नवकरवाली भी कहा जाता है। गणना-क्रम छोटी अंगुली के पैरवे से प्रारंभ करना चाहिए।

प्रश्न :

१. इष्ट-स्मरण करने से क्या लाभ है?

२. जप कैसे करना चाहिये?

३. माला रखने की विधि क्या है?

४. जप करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

२६

सामायिक-उपासना-विधि

सामायिक जैन उपासना-विधि का मुख्य अंग है। छः आवश्यकों में सामायिक पहला आवश्यक माना है।

श्रावक के नवें व्रत में भगवान् महावीर ने इसका समावेश किया है। सामायिक का शाब्दिक तात्पर्य 'समता का लाभ' है; अर्थात् जिस अनुष्ठान (क्रिया) से समता की प्राप्ति हो उसे सामायिक कहा गया है। समस्त प्राणियों के प्रति समभाव तथा एक मुहूर्त्त तक पापकारी प्रवृत्ति का परित्याग करना सामायिक है।

सामायिक करने का प्रचलन प्रायः जैन समाज में है। सामायिक करने की परम्परा सामायिक-पाठ विधि के द्वारा प्रत्याख्यान से है। सामायिक पाठ में सर्वप्रथम भगवद्-आज्ञा ली जाती है। भगवान् की आज्ञा लेकर धार्मिक प्रवृत्ति करना विनय की पद्धति है। इसलिए सर्वप्रथम सामायिक पाठ में भगवान् से आज्ञा ली गई कि हे भगवन् ! मैं पापकारी प्रवृत्ति का एक मुहूर्त्त तक दो करण और तीन योगों से प्रत्याख्यान करता हूं। दो करण और तीन योग को स्पष्ट करते हुए सामायिक-पाठ में बताया गया है कि मन, वचन और शरीर से मैं पाप-प्रवृत्ति न करूंगा और न किसी से करवाऊंगा। अतीत में हुए पापों की आत्म साक्षी तथा गुरुसाक्षी से निंदा करता हूं और अपनी आत्मा को इससे दूर करता हूं। अतीत में हुई बुरी प्रवृत्ति के प्रति अनुताप तथा आत्मालोचन से असत् संस्कार मिटते हैं, जिससे समता की प्राप्ति सहज हो जाती है।

सामायिक कैसे करें ?

कषाय की मन्दता से सामायिक सहज होती है। (फिर भी व्यवहार में) उसे करने की एक सुन्दर परम्परा है। सामायिक करने का अधिकारी शांत-कषायी ही हो सकता है। कषायों की शांति के लिए सर्वप्रथम आवेगों का उपशमन जरूरी है। आवेगों की शांति के लिए कायोत्सर्ग का विधान है। सामायिक-पाठ का संकल्प करते ही सर्वप्रथम २५ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग (ध्यान) करना चाहिए। इष्ट-स्मरण में नमस्कार महामंत्र का जप या अन्य किसी आराध्य महापुरुष का स्मरण करना चाहिए। जैसे – 'ओं नमो महावीराय', 'ओं भिक्षु' आदि, स्वाध्याय और ध्यान का आलम्बन लेकर सामायिक के काल को अप्रमत्त रहकर व्यतीत करना चाहिए।

सामायिक में पास रहने वाले द्रव्य, पुस्तक, वस्त्र आदि स्वच्छ होने चाहिए। गन्दे होने से स्वाध्याय में असज्झाय होती है तथा मन में ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार स्थान भी स्वच्छ, एकान्त और शांत होना चाहिए। सामायिक में बैठने की स्थिति सामान्यतः सुखासन, पद्मासन अथवा वज्रासन होनी चाहिए, जिससे आलस्य, निद्रा आदि सामायिक के दोषों का सहज वर्जन हो जाता है। सामायिक में पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख रहना चाहिए।

सामायिक का लाभ

भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र में एक प्रश्न के उत्तर में बताया है कि सामायिक करने से जीव को पापकारी प्रवृत्ति से विरति होती है। एक दूसरे प्रसंग में अपने परम भक्त राजा श्रेणिक से भगवान् कहते हैं–श्रेणिक! तुम पूणिये श्रावक की एक सामायिक को खरीद सको तो तुम्हारी नरक टल सकती है। सम्राट् श्रेणिक पूणिये श्रावक की सामायिक को मगध की समस्त सम्पत्ति के विनिमय में भी नहीं ले सका। सामायिक आत्मा की महत्त्वपूर्ण स्थिति है, जिससे समस्त विषमताएं मिट जाती हैं। सामायिक करना श्रावक का पुनीत कर्त्तव्य है। सामायिक करने से सहज शांति और आनंद की उपलब्धि होती है। प्राचीन आचार्यों ने सामायिक के महत्त्व को निम्न गाथा में व्यक्त किया है–

दिवसे एगं लक्खं देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।
एगो पुण सामाइयं करेइ न पहुप्पए तस्स।।

एक व्यक्ति प्रतिदिन एक लाख सुवर्ण मुद्राएं दान देता है। दूसरा केवल एक सामायिक करता है। सामायिक की दान से कभी तुलना नहीं हो सकती ; अर्थात् एक लाख मुद्राओं के दान से भी एक सामायिक श्रेष्ठ है। आगे चलकर आचार्य यहां तक कह देते हैं कि तीव्र तप, जप और चाहिए से क्या होता है जब तक तुमने सामायिक नहीं की ; क्योंकि सामायिक के बिना न मुक्ति हुई है और न कभी होगी।

किं तिव्वेणं तवेणं कि च जवेणं किं चरित्तेणं।
समयाइ विण मुक्खो न हू होई कह वि न हू होई।।

प्रश्न :

१. सामायिक का तात्पर्य क्या है? इसमें क्या होता है?

२. सामायिक कैसे करनी चाहिए?

३. सामायिक के लाभ बतायें।

२७

बाहुबलि का अहं

भगवान् ऋषभ कर्म-युग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्यों का भार सौंप वे मुनि बन गए। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता था, अतः उसने अपने ९८ भाइयों को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। ९८ भाई मिले। परस्पर परामर्श कर भगवान् ऋषभ के पास पहुंचे। सारी स्थिति भगवान् ऋषभ के सामने रखी।

भगवान् ने कहा – ''संयम का क्षेत्र निर्बाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हें कभी कोई अधीन करने आयेगा और न वहां युद्ध और विग्रह करने की सम्भावना होगी।''

आखिर वे भी भगवान् के परम साहसी पुत्र थे। भगवान् के मार्ग-दर्शन का सम्मान किया और उनसे प्रतिबोध पाकर उनके पास दीक्षित हो गये।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के बाद सहसा नहीं बुझती, भरत ने एक-एक कर सारे राज्यों को अपने अधीन कर लिया। (बाहुबलि को उसने नहीं छुआ) अट्ठानवे भाइयों के राज्य-त्याग की अभूतपूर्व रोमांचकारी घटना को वह अब भी नहीं भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एक छत्र राज्य का सपना पूरा नहीं हुआ। असंयम का जगत् ही ऐसा है जहां सब कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिंचनता की अनुभूति होती रहती है।

विजयोन्माद से उन्मत्त भरत ने बाहुबलि के पास दूत भेजा। दूत के मुंह से भरत का संदेश सुन बाहुबलि की भृकुटि तन गई। दबा हुआ रोष उभर आया। कांपते होठों से कहा – 'दूत! भरत अब भी भूखा है? अपने अट्ठानवे सगे भाइयों के राज्यों को बिना युद्ध के पाकर भी तृप्त नहीं बना? हाय! यह कैसी मनोदशा है? साम्राज्यवादी के लिए निषेध जैसा कुछ होता ही नहीं! मेरा बाहुबल किससे कम है? क्या मैं दूसरे राज्यों को नहीं हड़प सकता? किंतु यह मानवता का अपमान, शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भंग है, मैं ऐसा कार्य नहीं कर

सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता हैं। उनके पुत्रों को उसे तोड़ने में लज्जा का अनुभव होना चाहिये। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत् का चिह्न है। मानव-जगत् में विवेक का प्राधान्य होना चाहिये। शक्ति का सिद्धांत पनपा तो बच्चों ओर बूढ़ों का क्या बनेगा? उन्हें चट कर जायेंगे। रोगी, दुर्बल और अपंग के लिए यहां कोई स्थान नहीं रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र बन जाएगा। क्रूरता के साथी हैं– ज्वाला-स्फुलिंग, ताप और सर्वनाश। क्या मेरा भाई अब भी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर धकेलना चाहता है ? आक्रमण एक उन्माद है। आक्रान्ता उससे बेभान हो दूसरों पर टूट पड़ता है।

भरत ने ऐसा ही घोर अन्याय किया और मैं इसे चुप्पी साधे देखता रहा। अब उस उन्माद के रोग का शिकार मैं हूं। हिंसा से हिंसा की आग नहीं बुझती – यह मैं जानता हूं। आक्रमण को अभिशाप मानता हूं, किंतु अन्याय व आक्रमणकारी को सहूं–यह मेरी तितिक्षा से परे है। तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र की विशेषता है, किंतु उसकी भी एक सीमा है। मैंने उसे निभाया है। तोड़ने वाला समझता ही नहीं तो आखिर जोड़ने वाला कब तक सहन करे ?

भरत की विशाल सेना 'बहली' की सीमा पर पहुंच गई। इधर बाहुबली अपनी छोटी-सी, किन्तु अमित पराक्रमशाली सेना लेकर आक्रमण को विफल करने आ गया। भाई-भाई के बीच युद्ध छिड़ गया। स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबलि की सेना ने भरत की विशाल सेना को भागने कि लिए विवश कर दिया। सम्राट् की सेना ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। दुबारा भी मुंह की खानी पड़ी। लम्बे समय तक आक्रमण और प्रत्याक्रमण का क्रम चलता रहा। आखिर दोनों भाई आमने-सामने आ खड़े हुये। तादात्म्य आंखों पर छा गया। संकोच के घेरे में दोनों ने अपने आपको छिपाना चाहा, किन्तु दोनों विवश थे। एक के सामने साम्राज्य की अभिवृद्धि का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का। वे विनय और वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रणभूमि में उतर आए। दोनों पक्षों के निरीह बेकसूर सेना का अगणित नर-संहार टालने की भावना से देवताओं की मध्यस्थता से परस्पर में यह समझौता किया गया कि मात्र वे दोनों भाई ही दृष्टि-युद्ध, वाग्-युद्ध, बाहु-युद्ध, मुष्टि-युद्ध और द्वंद्व-युद्ध कर जय-पराजय का अन्तिम निर्णय करें। इस पांचों प्रकार के युद्ध में सम्राट् भरत पराजित हुआ। विजयी हुआ बाहुबलि। भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा। वह आवेग को रोक न सका। मर्यादा तोड़ बाहुबलि

पर चक्र का प्रयोग कर डाला। इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबलि का खून उबल गया। प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया। बचाव की भावना से शस्त्र-विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गए। भूमि और आकाश बाहुबलि की विरुदावलियों से गूंज उठे। भरत अपने अविचारित चक्र के प्रयोग से लज्जति हो सिर झुकाए खड़ा रहा। सारे लोग भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना में लग गये।

एक साथ लाखों कण्ठों से एक ही स्वर गूंज उठा– ''महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। सम्राट् ने अनुचित किया, पर छोटे भाई के हाथ से बड़े भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा। महान् ही क्षमा कर सकता है। क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता। महान् पिता के महान् पुत्र! हमें क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए।'' इन लाखों कण्ठों की विनम्र स्वर-लहरियों ने बाहुबलि के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया। बाहुबलि ने अपने-आपको सम्हाला। महान् पिता की स्मृति ने वेग का शमन किया, किंतु उठा हुआ हाथ विफल नहीं लौटता। उसका प्रहार भरत पर नहीं हुआ। अपना हाथ अपने सिर पर ही लगा और महाबली बाहुबलि ने अपने सिर के बाल स्वयं ही नोच डाले और अपने पिता के प्रशस्त पथ की ओर चल पड़े।

बाहुबलि के पैर आगे नहीं बढ़े। वे पिता की शरण में जाने को तत्पर हुए, पर उनके पास जाने में झिझके और नहीं गये, क्योंकि अहंकार अब भी बच रहा था। पूर्व-दीक्षित छोटे भाईयों को नमस्कार करने की बात विचार में आते ही उनके पैर रुके, वे एक वर्ष तक ध्यान मुद्रा में खड़े रहे। विजय और पराजय की रेखाएं– अनगिनत होती हैं। असंतोष पर विजय पाने वाले बाहुबलि अहं से पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गए, किंतु उनके अहं ने उन्हें पीछे ढकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के उपरान्त भी वे आगे नहीं बढ़ सके।

'ये पैर रुक क्यों रहे हैं ? सरिता का प्रवाह रुक क्यों रहा है?' यह शब्द बहुबलि के कानों को बींध हृदय को पार कर गये। बाहुबलि ने आंखें खोलीं। देखा, ब्राह्मी और सुन्दरी सामने खड़ी हैं। और उन्हें सम्बोधित करते हुये अतीव मधुर स्वर-लहरी में कह रही है– ''वीरा म्हारा ! गज थकी उतरो।'' मेरे भाई अभिमान रूपी हाथी से उतरो, यह अमृतमयी आत्म-प्रबोधकारी वाणी सुनकर और बहनों की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आंखें झुक गई।

अवस्था से छोटे-बड़े की मान्यता एक व्यवहार है। यह सार्वभौम सत्य नहीं है। ये मेरे पैर गणित के छोटे-से प्रश्न में उलझ गए। छोटे भाइयों को मैं नमस्कार कैसे करूं इस तुच्छ चिंतन में मेरा महान् साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् में छुटपन और बड़प्पन के मानदण्ड बदल जाते हैं। वे भाई मुझसे छोटे नहीं हैं, उनका चरित्र विशाल है। मेरे अहं ने मुझे और छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान् के पास चलना चाहिये।

पैर उठे कि बन्धन टूट पड़े। नम्रता के उत्कर्ष में समता का प्रवाह बह चला। वे केवली बन गए। सत्य का साक्षात् ही नहीं हुआ, वे स्वयं शिव बन गए। शिव अब उनका आराध्य नहीं रहा, वे स्वयं शिव बन गए। आनन्द अब उनके लिए प्राप्य नहीं रहा, वे स्वयं आनन्द बन गए।

प्रश्न :

१. भगवान् ऋषभ के कितने पुत्र थे?

२. बाहुबलि को तपस्या करने पर भी कैवल्य क्यों नहीं प्राप्त हुआ?

३. 'वीरा म्हारा गज थकी उतरो' इसका क्या तात्पर्य है?

४. संक्षेप में बाहुबलि की घटना प्रस्तुत करो।

५. पांच युद्धों के नाम बताओ।

२८

महावीर का मेघकुमार को ज्ञान-दान

मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र था। उसकी माता का नाम धारिणी था। शुभ स्वप्न के द्वारा माता धारिणी ने पुत्र का प्रसव किया। माता को गर्भकाल में अकाल मेघ की इच्छा उत्पन्न हुई थी, अतः पुत्र का नाम मेघ रखा गया। मेघकुमार ने आचार्य के पास बहत्तर कलाएं हस्तगत कीं। माता-पिता ने युवक मेघ की शादी आठ सुन्दर, सद्गुणी कन्याओं के साथ की।

एक दिन राजगृह में भगवान् महावीर समवसृत हुए। सब लोग भगवान् का अभिनन्दन करने जा रहे थे। मेघ भी गया। भगवान् की वाणी सुनी। उसका मन उस वाणी में प्रतिबद्ध हो गया। वह भगवान् के निकट आकर बोला–''भन्ते ! मैंने आपका प्रवचन सुना है, मैं उसमें श्रद्धा करता हूं, उसमें प्रीति करता हूं और चाहता हूं आपके पास प्रव्रजित होना।'' भगवान् ने दीक्षा की स्वीकृति दी। मेघ घर आया और माता-पिता के समक्ष अपनी भावना रखी। माता का सहज ममत्व उभर आया। वह बोली–''वत्स! तू मेरी आशा का केन्द्र है। तेरे बिना मेरी क्या अवस्था होगी? वत्स! तू अभी सांसारिक सुखों का भोग कर, बुढ़ापे में दीक्षित हो जाना।''

मेघ ने कहा–''मां ! मौत का क्या पता, कौन पहले चला जाए! संसार दुःखों का घर है।''

इस प्रकार माता-पिता को समझाकर वह दीक्षा के लिए भगवान् महावीर के चरणों में उपस्थित हो गया।

मेघ भगवान् के पास मुनि बन गया। भगवान् ने कहा–''मेघ ! अब तुम्हें सारा कार्य यत्नापूर्वक करना है। चलना, बैठना, सोना, खड़ा होना और भोजन करना ये सभी कार्य यत्नापूर्वक होने चाहिए।''

मुनि-जीवन का प्रथम सुखद दिन बीता। निशा का आगमन हुआ। सभी मुनि अपने-अपने शयन स्थान पर चले गए। मेघ का शयन-स्थान क्रम के अनुसार द्वार के बीच में था। रात में साधुओं का गमनागमन होता रहा जिससे उसे एक क्षण भी नींद नहीं आयी। मन में नाना प्रकार की कल्पनाएं उभरने लगीं,

उतार-चढ़ाव आने लगे। उसने मन में सोचा – ''तब ये मुनि मेरे साथ प्रेमपूर्वक कितनी ज्ञान-चर्चा करते थे, जब मैं गृहस्थ-जीवन में था, किन्तु आज ये कोई मुझसे बात भी नहीं करते और न सम्मान देते हैं। कितने स्वार्थी हैं! मुझे इनके साथ नहीं रहना है। मैं प्रातःकाल भगवान् के पास जाकर अपनी बात स्पष्ट कर दूंगा।

रात बीत चली। मेघ के दुःखों का मानों अन्त होने लगा। वह सूर्योदय होते ही भगवान् के सम्मुख उपस्थित हो गया। बोलना चाहता था, किंतु बोल नहीं सका। भगवान् ने मौन भंग करते हुए कहा – ''मेघ ! तू घर जाने के लिए मेरे पास आया है। रात में तेरे मन में ये विचार उत्पन्न हुए कि ये साधु स्वार्थी हैं, मुझे सम्मान नहीं देते हैं, क्या सत्य है ?'' मेघ बोला – ''भगवन् ! सत्य है।''

भगवान् ने कहा – ''मेघ ! पूर्वजन्म का स्मरण कर। उसमें तूने कितने कष्ट सहे थे। इससे पहले भव में तू हाथी था। विन्ध्य पर्वत की तलहटी में अनेक हाथियों से परिवृत विचरण करता था। एक दिन तू प्यास से आकुल होकर पानी पीने के लिए तालाब में घुसा। उसमें पानी कम था और कीचड़ अधिक। तू उसमें फंस गया। तेरे साथ एक युवा हाथी था। उसने वैर के कारण दन्तशूल से तुझे बड़ा कष्ट पहुंचाया। तू आर्त्तध्यान (चिंताकुल) वश मरकर विन्ध्याचल की तलहटी में गंगा नदी के दक्षिण तट पर फिर हाथी के रूप में पैदा हुआ। सात सौ हाथियों का तू नेता बना। तूने जाति स्मरण-ज्ञान के द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए एक योजन भूमि को वृक्षलता और तृण से रहित कर समतल बनाया, जिससे कि दावानल की विपत्ति से सुरक्षित रह सके।

एक दिन जंगल में आग लग गई। वन्य-पशु उसी में शरण लेने लगे। तू भी वहां पहुंच गया। एक खरगोश भी उसी मण्डल में घुस आया। तूने शरीर खुजलाने के लिए अपने पैर को ऊंचा उठाया तब वह खरगोश तेरे पैर के नीचे आकर बैठ गया। पैर को नीचे रखते समय तूने जब नीचे की ओर देखा तो तुझे भान हुआ कि एक खरगोश वहां सुरक्षित बैठा है। पैर रखने से वह मर न जाए इसलिए तूने अपने पैर को अधर आकाश में लटकाए रखा। अढ़ाई दिन के बाद आग शांत हो गई। सब पशु अपने-अपने सुरक्षित स्थान में लौट गए। वह खरगोश भी चला गया। अब तू पैर को नीचे रखने लगा। लेकिन पैर अकड़ गया था, नीचे रख नहीं सका। तू स्वयं गिर गया। अपने भारी-भरकम शरीर को सम्भाल नहीं सका। उस समय, भूख-प्यास और भयंकर शारीरिक वेदना को तीन दिन तक शांत भाव से सहता रहा। तू सम्यग् दर्शन से अनभिज्ञ था, किंतु फिर भी कष्ट में अपूर्व धैर्य रखा, जिससे पशु-जीवन को छोड़कर मनुष्य बना और राजा श्रेणिक के घर पैदा हुआ।

आज तूं धर्म (सम्यक् दर्शन) – संपन्न है, मुनि है फिर भी थोड़े से कष्टों से कितना अधीर हो गया है और घर जाने की सोच रहा है? अपनी उस पूर्व स्थिति को देख, उसमें तूने कैसा दृढ़ मनोबल रखा था?''

मेघ की सोई हुई आत्मा जाग गई। उसके मानस में एक नई सिंहरन दौड़ गई। चित्त एकाग्र हो गया। पूर्वजन्म की स्मृति ताजा हो गई। जैसा भगवान् ने निरूपण किया था वैसा ही उसने देखा। मन पुनः स्थिर हो गया और उसने भगवान् के पास अपने दुश्चिन्तन की आलोचना की।

प्रश्न :

१. मेघकुमार का मन घर जाने का क्यों हुआ?

२. मेघ पूर्वजन्म में क्या था और उसने दावानल से बचने का क्या उपाय किया था?

३. मेघकुमार की घटना को संक्षेप में अपनी भाषा में बताओ।

२९

गजसुकुमाल की सहनशीलता

भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका पधारे। अन्यत्र पले श्रीकृष्ण के छः भाई, भगवान् की आज्ञा लेकर दो-दो साधुओं के तीन संघटनों में विभक्त होकर भिक्षा के लिए द्वारिका में घूमने लगे। घूमते-घूमते प्रथम सिंघाड़े ने वसुदेव की रानी देवकी के घर में प्रवेश किया। देवकी ने हर्ष के साथ खड़े होकर भोजन-गृह से सिंघ-केशरिया मोदक दोनों मुनियों को बहराये। उसके बाद दूसरा सिंघाड़ा भी पर्यटन करता हुआ वहीं आ पहुंचा। देवकी ने उन्हें भी इसी प्रकार दान दिया। फिर तीसरा सिंघाड़ा भी वहां आ पहुंचा। उन्हें भी उसी प्रकार बहराया, परन्तु इस बार देवकी को शंका उत्पन्न हो गई। सोचने लगी–ये दोनों साधु बार-बार एक ही घर में भिक्षा के लिए क्यों आते हैं ? इस शंका का निवारण करने के लिए वह भगवान् के पास गई। भगवान् ने आदि से अन्त तक सारा रहस्य बताते हुए फरमाया कि ये छहों भाई एक समान रूप वाले हैं तथा ये तुम्हारे ही पुत्र हैं। नेमी प्रभु से सारा रहस्य प्राप्त करके बड़ी प्रसन्न हुई। उसके पश्चात् देवकी मन ही मन विचार करने लगी कि मैंने नलकुबेर सदृश सात पुत्रों को जन्म दिया, परन्तु मैंने एक की भी बाल्यावस्था नहीं देखी। मैं जघन्य, अधन्य, अपुण्य और अकृतपुण्य हूं।

इधर कृष्ण जब देवकी को प्रणाम करने आये तो माता को उदास देखकर उसका कारण पूछा। देवकी ने अपनी वेदना प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण से कहा–'पुत्र! मैंने नल-कुबेर सदृश सात पुत्रों को जन्म दिया पर एक का भी बाल्य-सुख अनुभव नहीं कर सकी।' देवकी को उचित आश्वासन देकर श्रीकृष्ण ने अपने मित्र-देव को याद किया। देव के प्रकट होने पर श्रीकृष्ण ने कहा–'देवानुप्रिय ! मुझसे लघु बन्धव होने की मेरी व माता की इच्छा पूर्ण करे।' देव ने कहा–'एक उत्तम जीव आपका भाई होगा और वह छोटी अवस्था में ही भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करेगा।' श्रीकृष्ण देवकी के पास आये और उसे देव के कथन को सुनाकर अपने स्थान चले गए।

यथासमय सिंह-स्वप्न सूचित देवकी के पुत्र उत्पन्न हुआ। हाथी के तालु के सदृश कोमल होने के कारण बालक का नाम गजसुकुमाल रखा गया। गजसुकुमाल के किशोरावस्था पार करने पर जब भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका में

पधारे तब श्रीकृष्ण और गजसुकुमाल हाथी पर चढ़कर वन्दनार्थ गये। मार्ग में श्रीकृष्ण ने सोमिल ब्राह्मण की कन्या सोमा को खेलते हुए देखा। उसके अद्भुत रूप और लावण्य को देखकर श्रीकृष्ण विस्मित रह गये। श्रीकृष्ण ने अपने विस्वस्थ व्यक्ति को आदेश दिया कि इस कन्या को उसके पिता से आज्ञा लेकर कन्याओं के अन्तपुर में भेज दो। इसका पाणिग्रहण गजसुकुमाल से होगा। उसने श्रीकृष्ण के आदेश को शिरोधार्य किया। सोमिल ब्राह्मण के साथ बातचीत की और गजसुकुमाल की शादी की बात निश्चित कर, कन्या को कन्याओं के अन्तःपुर में भेज दिया। इधर श्रीकृष्ण गजसुकुमाल के साथ भगवान् नेमी प्रभु के दर्शन कर उनकी अमृतमय देशना सुनने लगे। कुमार गजसुकुमाल भगवान् का प्रवचन सुन प्रतिबोध को प्राप्त हुए। अब उन्हें संसार के बन्धनों में रहना किसी प्रकार स्वीकार नहीं था। एक बलवती प्रेरणा उन्हें साधुता की ओर खींचने लगी। देशना समाप्त होते ही वे भगवान् के पास आये और माता-पिता की अनुमति लेकर दीक्षा लेने का अपना निश्चय प्रकट किया।

घर आकर गजसुकुमाल माता-पिता तथा श्रीकृष्ण से दीक्षा की अनुमति मांगने लगे। माता-पिता तथा श्रीकृष्ण ने उन्हें घर में रखने के विविध प्रयत्न किये। एक दिन का राज्य भी दिया गया, परन्तु गजसुकुमाल की दृढ़ता के सामने उन्हें किंचित् भी सफलता नहीं मिली। आखिर उन सबकी अनुमति पाकर गजसुकुमाल भगवान् के पास आए और बड़े ही उल्लास के साथ साधु-धर्म अंगीकार कर लिया। अब वे राजकुमार न रहकर मुनि गजसुकुमाल हो गये। दीक्षा लेते ही मुनि गजसुकुमाल ने भगवान् से सानुनय प्रार्थना की– 'भगवन्! आप मुझे कोई ऐसा मार्ग दिखाएं जिससे मेरा काम शीघ्रता से तुरन्त सिद्ध हो जाये।' प्रभु से यह छिपा नहीं था कि मुनि गजसुकुमाल इसी जन्म में मोक्ष जाने वाला है। उन्होंने तत्काल अपनी मधुरवाणी में फरमाया– 'गजसुकुमाल! मार्ग तो है, परन्तु है अति ही कठिन और अति दुःसाध्य।' मुनि गजसुकुमाल ने कहा– 'भगवन्! कठिनता से मैं नहीं घबराता। मैं सब प्रकार से तैयार हूं। कृपया आप मार्ग प्रशस्त कर आज्ञा प्रदान करें।' भगवान् ने कहा– 'मुने! वह मार्ग है– भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा।'

मुनि गजसुकुमाल उसी समय भगवान् को वन्दना कर श्मशान की ओर चल पड़े। श्मशान का दृश्य बड़ा भयानक था। चारों ओर चितायें जल रही थीं। वहां पर मुनि गजसुकुमाल दोनों पेरों को सटा कर खड़े-खड़े ध्यान करने लगे। अब उनका बाहरी दुनिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वे भीतर ही भीतर

आत्मरमण में गोते लगाने लगे। सन्ध्याकाल के समय सोमिल ब्राह्मण होम की सामग्री इकट्ठी कर लौटते हुए श्मशान के पास से गुजरा। वहां गजसुकुमाल को ध्यान में खड़े देखकर सोमिल के हृदय में पूर्व भव के वैर का संस्कार जागृत हो गया। वह क्रुद्ध होकर बकने लगा। उसने कहा – 'रे गजसुकुमाल! यदि तुझे यही करना था तो फिर मेरी पुत्री के साथ शादी क्यों स्वीकार की? उसके साथ तूने बड़ा विश्वासघात किया है। जरा बता तो सही, यह?' मुनि गजसुकुमाल अपने ध्यान से रत्तीभर भी विचलित नहीं हुए। सोमिल के कर्कश बचनों पर उन्हें तनिक भी क्रोध नहीं आया। उनके समतापूर्ण हृदय में यही मंत्र जमा हुआ था कि 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्, असाधुं साधुना जयेत्' – अर्थात् क्रोध को अक्रोध (क्षमा) से जीतो और असाधु को साधुता से।

मुनि गजसुकुमाल से कुछ भी उत्तर न पाकर सोमिल तिल-मिला उठा। वह क्रूर पुरुष बिना कुछ सोचे समझे महान् अत्याचार करने पर तुल गया। उसने इस बैर का बदला लेने के लिए गजसुकुमाल के मस्तक पर गीली मिट्टी की पाल बनाकर उसमें प्रज्वलित अंगारे (खीरे) रख दिए। मुनि गजसुकुमाल का मुण्डित सिर तत्काल खिचड़ी की तरह खद-खद सीझने लगा। उन्हें उस समय असह्य पीड़ा हो रही थी, परन्तु सोमिल पर उन्हें तनिक भी क्रोध नहीं था। उनके पवित्र हृदय में क्षमा का शीतल-सागर लहरा रहा था। वे सोचने लगे – 'यह मेरे संसारपक्ष के श्वसुर हैं, फिर इन्होंने क्या बुरा किया है ? मैं तो समझता हूं इन्होंने मेरे सिर पर मिट्टी की पाल तथा अंगारे नहीं रखे हैं, बल्कि मुक्ति-रमणी के साथ शादी करने को पाग पहनाई है। मुझे इन पर तनिक भी रोष नहीं करना चाहिए। आखिर यह मेरा बिगाड़ भी क्या सकते हैं ? यह शरीर तो मेरा है ही नहीं। यदि यह नष्ट होता है तो इससे क्या? इसका मुझे क्षय करना ही था। इन्होंने ऐसा कर मुझे सहायता ही पहुंचाई है। यह सोचकर मुनि गजसुकुमाल अपनी आत्मा को प्रबोध देने लगे। उनकी दृढ़ श्रद्धा थी कि हिंसा का प्रतिकार कभी हिंसा से नहीं हो सकता – हिंसा-हिंसा से शांत नहीं होती। उसका प्रतिकार एकमात्र अहिंसा (क्षमा) ही है। हिंसा का प्रत्युत्तर एक अहिंसा ही है ; इसलिए गजसुकुमाल ने सोचा – क्षमा धर्म को पालते हुए मरना अच्छा है, परन्तु अधर्मक्रोध के द्वारा किसी का जीना अच्छा नहीं। इस प्रकार मुनि गजसुकुमाल की आत्मा बिल्कुल विशुद्ध हो गई। और उनके समस्त पापकर्म एकदम क्षय हो गये। क्षमा धर्म के द्वारा क्रोध पर अमर विजय प्राप्त कर उनकी आत्मा सदा-सदा के लिए जन्म-मरण के द्वंद्व से मुक्त बन गई।

मुनि गजसुकुमाल की कहानी क्षमा की एक जीतीजागती कहानी है। उनकी इस महत्त्वपूर्ण कहानी से सबको जीवन के प्रत्येक कार्य में क्षमा को प्रमुख स्थान देना चाहिए। देश का भविष्य देश के बाल-समाज पर ही निर्भर है। अतः बालको को तो अधिक से अधिक क्षमाशील बनना चाहिए। क्षमा गुण-संपन्न व्यक्ति ही देश के जन-जन को उन्नति का मार्ग दिखला सकते हैं, नवजागरण का शंक फूंक सकते हैं और वास्तविक सुधार करने में समर्थ व सफल हो सकते हैं।

प्रश्न :

१. गजसुकुमाल कौन थे?

२. गजसुकुमाल के मस्तक पर अंगारे किसने रखे तथा क्यों रखे?

३. गजसुकुमाल की सहनशीलता से तुम्हें क्या प्रेरणा मिलती है?

४. भगवान् अरिष्टनेमि कौन थे?